सत्यसनातन आर्यधर्म

लेखक—

महर्षि शिवव्रतलाल जी महाराज

(उर्दू पुस्तक से अनुवादित)

—:o:—

सम्पादक—

नन्दू भाई

निजामाबाद (दक्षिण)

—:o:—

अ० सहायक सम्पादक

देवीचरन मीतल

लेखराजनगर, अलीगढ़

—❀—

प्रथम बार सं० शाका १८७६

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य १।)

विषय-सूची

	पृष्ठ
प्रार्थना	३
सम्पादकीय	४
भूमिका	५
अध्याय १—हिन्दू धर्म की विशेषतायें	१३
अध्याय २—पवित्र वेद	
प्रथम खंड—वेद के सम्बन्ध में भिन्न २ मत	२६
दूसरा खंड—ऋषियों के विचार में वेद क्या हैं	३१
तीसरा खंड—'श्रुति' शब्द का अर्थ	४०
चौथा खंड - तीन वेद	४६
पाचवाँ खंड—वैदिक देवता	५४
छटा खण्ड—उपनिषदों का ध्यान	५८
तीसरा अध्याय—हिन्दू धर्म के रूप	६५
चौथा अध्याय-तीनों मार्गों के अनुसरण में श्रुति की महत्ता	८३
छटा अध्याय—षट दर्शन (संक्षेप)	
प्रथम खंड—न्याय	९१
दूसरा खण्ड—वैशेषिक	९३
तीसरा खण्ड—सांख्य	९८
चौथा खण्ड—योग	१०३
पाचवां खण्ड—पूर्व मीमांसा	१०७
छटा खण्ड—उत्तर मीमाँसा अथवा वेदान्त	११०
सातवाँ अध्याय—पुराण	११७
आठवाँ अध्याय—भगवद् गीता	१२३
परिशिष्ट—श्रुति मार्ग	१२८

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

भूमिका

सच्चा और सनातन आर्य्य धर्म संसार का सबसे प्राचीन, सबसे उत्तम और सबसे सच्चा पंथ है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि और सब मत नितान्त नवीन, असत्य और झूठे हैं। ऐसा कथन अत्यन्त असत्य होगा। यदि और कोई ऐसा कहे तो कहे हमको हुजूर महाराज के चरणों की छाया के नीचे बैठने से और उनके चरण-कमल की धूलि आँखों में लगाने से विशेष प्रकार की विवेक दृष्टि प्राप्त हुई है। हम विशेषतया किसी को ऐसा नहीं कह सकते। सब मतों में सचाई है, सबकी नींव सचाई पर है और सब अपने-अपने ढंग पर सचाई को प्रकट करते हैं। सचाई के बिना इस संसार में कोई वस्तु स्थापित नहीं हो सकती और न स्थापित रह सकती है। इनमें से कोई भी झूठा अथवा असत्य नहीं है, परन्तु आर्य्य धर्म में और इनमें भेद है। भेद यह है कि वह धर्म के एक-एक अंग को लेकर उस का प्रचार करते तथा पक्ष लेते हैं। आर्य्य धर्म पूर्ण मार्ग और पंथ है। इसमें धर्म के सारे अंग विद्यमान हैं। यह बीज है और यह बीज से उत्पन्न हुआ पूर्ण वृक्ष है जिसमें पेड़ी, शाखा, टहनी, फूल, फूल, पत्ते, फल सब ही विद्यमान हैं। उनमें कोई वस्तु है, कोई नहीं है। बीज अथवा पूर्ण वृक्ष की दृष्टि से किसी को अधिकार नहीं है कि वह शाखा, टहनी, पत्ते, फूल अथवा फल में से किसी को असत्य कहे अथवा उनके खंडन का साहस करे। हाँ! पूर्ण तो पूर्ण ही है, और अंश, अंश ही है। केवल इतना भेद है।

दीर्घ दृष्टि से देखने पर इसका भली प्रकार पता लग सकता है और जिनको ऐसी दीर्घ दृष्टि अभी तक नहीं प्राप्त हुई है वह न तो इस भेद को समझ सकते हैं और न उसके वास्तविक

रूप का दर्शन कर सकते हैं। यह उनकी दृष्टि का दोष है और कुछ नहीं। सूर्य्य तो हर समय अपने अद्वितीय तेज से चमकता ही रहता है जिसको जैसी दृष्टि प्रदान हुई है वह उसे केवल उतना ही अपनी दृष्टि की योग्यता और अधिकार के अनुसार देख सकता है। ऐसे प्राणी इस संसार में बहुत कम होते हैं जो सूर्य्य के पूर्ण तेजोमय दृश्य को देख सकें और जिसको यह आंशिक दृष्टि भी प्राप्त नहीं है वह विचारा यदि सूर्य्य के अस्तित्व से इन्कार न करे तो क्या करे। उस विचारे का दोष क्या है? और हममें से किसी पूर्ण अथवा आँशिक दृष्टि रखने वाले को कोई भी अधिकार नहीं है कि हम उसको बुरा भला कहें। जो जैसा है, जैसी दृष्टि रखता है, जितनी दृष्टि रखता है, उतना, उसी परिमाण में और वैसा ही तो देखेगा। उल्लू, चमगादड़ अपनी दृष्टि दोष के कारण सूर्य्य को नहीं देख सकते और यदि वह उसके अस्तित्व से इन्कार करें तो किसी सीमा तक वह सचाई पर भी हैं। उनके समझाने और सूर्य्य के अस्तित्व के मनवाने का यह ढंग नहीं है कि उन को बुरा-भला कहा जाय। प्रत्युत सचाई के ग्रहण कराने के दूसरे प्रकार के ढंग हैं। उनको यह बता देना है कि भाई! तुम दिन के समय जिसके देखने का साहस नहीं कर सकते और घुप अन्धकार में छुप कर बैठे रहते हो। केवल रात्रि के अन्धेरे में बाहर आने का साहस करते हो। वही सूर्य्य है। इससे अधिक उनको कहना सुनना व्यर्थ है। धैर्य्य के साथ उस समय की प्रतीक्षा करनी चाहिये जब उनके दृष्टि कोंण की ठीक पूर्णता हो ले। उस समय वह स्वयं जान जायेंगे और तेजोमय तथा प्रकाशवान सूर्य्य को पहिचान जायेंगे। इनसे वाद-विवाद अथवा शास्त्रार्थ करना व्यर्थ है। इनकी दृष्टि की पूर्णता स्वयं कभी न कभी हो जायगी क्योंकि सृष्टि क्रम में

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

स्वयं इसके प्रबन्ध का ढंग विद्यमान है। कभी न कभी होकर रहेगा। आज नहीं तो कल-कल नहीं तो परसों, ऐसा होना ही है।

हिन्दू धर्म की संसार के और समस्त मतों के बीच एक विशेष प्रकार की विवेकमय स्थिति है। क्षुद्र दृष्टि के लोग उस की आँशिक और ऊपरी बातों को सुनकर अकारण ही घृणा करते हैं और उसके अधिकार के छीनने की चिन्ता में रहते हैं यद्यपि यह उनकी सामर्थ्य से बाहर है। जो धार्मिक विचारा के संघर्ष का दृश्य इस समय हमारे सामने उपस्थिति है वह हिन्दू धर्म के इतिहास में कोई नई बात नहीं है। ऐसा इस कल्प में अनेकों बार हो चुका है। अंशों और ऊपरी बातों में फँसने वाले राक्षस अनेकों बार हमको पराजय कर चुके हैं यहाँ तक कि हम से हमारे वेदों तक को छीन ले गये। हमको बे हथियार का बना दिया। हम बेबस हो गये, दीन और अधीन बन गये। परन्तु क्या यह दशा सदैव वर्त्तमान रही? प्रकृति ने हमारे हथियार फिर हमें प्रदान किये और हम फिर उनको पाकर अपनी खोई हुई समृद्धि को वापिस लाये और अब तक किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं। किसी पार्थिव अथवा आकाशी शक्ति को यह अवसर नहीं मिला कि हमको अवनि-तल से सदैव के लिये मिटा सके और निःशेष कर सके। इस प्रकार के वर्णन से हमारे पुराणों के पृष्ठ भरे पड़े हैं जो विचारशील विद्यार्थियों के लिये विवेक और विचार की सामिग्री हर समय उपस्थित करते रहते हैं। उसी ऐतिहासिक घटना के दोहराने का समय फिर आया और हम फिर दीन और बेबस हो गये। लोगों ने समझ लिया कि अब हिन्दुओं की समाप्ति हो जायगी परन्तु उनको यह पता नहीं है कि सृष्टि प्रबन्ध में इस भूतल पर हिन्दू जाति को विशेष प्रकार का

मिशन (कर्त्तव्य) देकर भेजा गया है। जब तक हिन्दू अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखते हैं अथवा उस पर आरूढ़ हैं, वह अपनी सम्पत्ति से कैसे वंचित हो सकेंगे। यह मिशन उनका धर्म है। यही उनकी इस संसार में विशेषता है। धर्म कहते हैं धारण कर रखने को। यह धर्म ही इष्ट है, आदर्श है और ध्येय है। अब तक विरोधी भावों और दशाओं के आक्रमण के होते हुये भी हिन्दू किसी न किसी रूप में उस पर आरूढ़ हैं।

इस संसार में जब किसी एक व्यक्ति की दशा एक ढंग पर नहीं रहती तो फिर जाति की कैसे रह सकती है। दिन के पश्चात् रात्रि और जागृति के पीछे स्वप्न का आना आवश्यक है। यदि हम इस समय प्रतिकूल समय के आक्रमणों से आहत हो रहे हैं तो इसमें आश्चर्य्य की कौनसी बात है? ऐसा तो सदैव से ही होता चला आया है। समुद्र में ज्वार-भाटे आते ही रहते हैं। आकाश पर चाँद का घटना बढ़ना सदैव ही हुआ करता है। गर्मी, सर्दी और बरसात के ऋतु परिवर्तन को कौन रोक सकता है। ब्रह्मा ने इस जगत को ऐसा ही बनाया है। यह संसार द्वन्द अवस्थाओं की संग्राम भूमि है। इसमें कभी देवताओं की वृद्धि होती है कभी ह्रास होता है। कभी राक्षस विजयी होते हैं कभी पराजित होते हैं। देवता और राक्षस दोनों ही की सहानुभूति अभीष्ट है। हाँ! भेद इतना है कि देवताओं की वृद्धि अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होती है, राक्षसों की वृद्धि में इतना टिकाव और ठहराव नहीं होता; परन्तु यह दोनों ही प्रकार के जीव सम्बन्धित स्थल में बैठक, ठहराव और टिकाव रखने के कारण कभी उभरते कभी दबते हैं।

अब प्रश्न यह है कि हिन्दू धर्म अथवा सत्य सनातन अ
धर्म क्या है और इस धर्म की रक्षा का सृष्टि-क्रम में
प्रबन्ध है ? यह प्रश्न अति कठिन, उलझा हुआ तथा अति
ही गहरा है। इसका वर्णन दो-चार, दस-बीस पृष्ठों की
पुस्तक में नहीं आ सकता। हम यहाँ पर केवल इतना ही कह
सकते हैं कि जिस को हिन्दू धर्म कहते हैं उसको ऋषियों ने
अपने ढंग पर श्रुति, स्मृति और पुराण इत्यादि में वर्णन कर
दिया है। वह क्या है ? "अंश में पूर्ण का ध्यान और पूर्ण के
ध्यान में अंश के कार्य्य को चित देना।" यह शब्द पहेली हैं,
परन्तु हम इससे अधिक कहना भी नहीं चाहते। हम जो
कुछ कह सकते हैं वह केवल इतना ही है।

यह हम मानते हैं कि श्रुति, स्मृति और पुराण इत्यादि
में कुसमय में कहीं-कहीं मिलावट हो गई है। इससे किसी
अनुभवी हिन्दू को इन्कार नहीं हो सकता। यहाँ तक कि
सिकन्दर लोदी के समय में हिन्दुओं के १०८ उपनिषदों तक
में एक उपनिषद् बढ़ा दिया गया और लालची पंडितों ने लोभ
के जाल में फँसकर उस छोटी सी पुस्तक को उनकी सूची में
मिला दिया। इसी प्रकार स्मृतियों और पुराणों का हाल भी
हुआ है। उपनिषद् की गणना हमारे यहाँ श्रुति में है। सम्भव
है दूसरी श्रुति ब्राह्मण भाग में भी ऐसा किया गया हो, परन्तु
अभी तक हमको स्वयं उनके जाँच का अवकाश नहीं मिला है।
हाँ ! श्रुति का संहिता भाग अब तक इस आतंक से सुरक्षित
है, क्योंकि कृष्णद्वैपायन व्यास ने आने वाले समय के विकार
का पता पाकर उसके अक्षर, शब्द, सूत्र-मंडल, सूक्त इत्यादि
तक की गणना करके उनके कंठाग्र कराने का प्रबन्ध कर दिया
था। इसी प्रकार पुराणों में भी इसी प्रकार का संशय हो सकता

है। परन्तु यह इतनी अधिक डराने वाली बात नहीं है। हिन्दू सदा से गम्भीर चित्त और समझ बूझ वाले रहे हैं। विचार और विवेक शक्ति उनसे कभी दूर नहीं हुई और इस मिलावट के होते हुये भी आप देख लीजिये कि ऊपर हमने धर्म की जो व्याख्या की है वह अब तक सामुहिक रूप से सारे हिन्दुओं के जीवन का सिद्धान्त बना हुआ है। एक भी हिन्दू ऐसा दिखाई नहीं देगा जो हिन्दू धर्म को इस दृष्टि से न समझता हो जिस दृष्टि से हम उसे इस समय समझा रहे हैं। ऊपर वर्णित धर्म की व्याख्या का वाक्य एक सूत्र है जिसके सविस्तार वर्णन के लिये एक दफ्तर चाहिये। यह हिन्दू जाति का धर्म है।

अब रहा दूसरा प्रश्न कि "इस धर्म की रक्षा का प्रबन्ध किस प्रकार किया गया है।" इसके सम्बन्ध में संक्षेप से यह सुन लीजिये कि जब तक हिन्दू (१) वेदों की महत्ता को स्वीकार किये हैं (२) वैदिक संस्कारों को किसी न किसी रूप में पालन करते रहेंगे (३) (कर्त्तव्य की दृष्टि से) जात पाँत के नियमों पर चलते रहेंगे (४) ठीक समय पर तीज और त्यौहार मनाते रहेंगे (५) खाने पीने के विषय में (संस्कारों की दृष्टि से) छूत छात का ध्यान रखेंगे, तब तक उनको न धर्म से गिरने का भय है और न दूसरे उनको हज्म कर सकेंगे।

अनसमझ आदमी इन बातों पर उपहास करेंगे। उनको समझ भी न आयेगी कि हम कह क्या रहे हैं। परन्तु हमारी समझ में हिन्दू जाति के स्थित रखने के केवल यही उपाय हैं। हमको उसी चाल पर चलना चाहिये जिसका ऋषियों ने हमको आदेश दिया है। दम्भी और पाखण्डी सबसे अधिक दुष्ट होता है। यह युग दम्भ का है। लोग कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। वह स्वयं अपने मन में विचारें कि उनके जीवन व्यवहार में सचाई है अथवा पाखण्ड है उनको स्वयं पता

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

लग जायेगा। दम्भ विष है जो जाति और देश को विषैला के नाश कर देता है। यदि वह इन बातों को नहीं मानते क्या कारण है कि वह हिन्दू बने रहें। हिन्दुओं की ओर से उनको स्वतन्त्रता है वह जिस प्रकार चाहें रह सकते हैं। परन्तु उनका हिन्दुओं के मध्य में रह कर सारी जाति को विषैला करते रहना अतीव घृणित व्यौहार है। हम जान-बूझ कर भी जात पाँत और खान पान आदि के बन्धन को आवश्यक समझते हैं। हम अपने को अनसमझ नहीं समझते। हमने अमरीका आदि का भ्रमण भी किया है परन्तु कोई कारण है जिससे हम इन बातों को अपने लिये आवश्यक समझते हैं। वर्ण-आश्रम की नये सिरे से स्थापना करना न केवल कठिन प्रत्युत असम्भव है जिसका जी चाहे प्रयत्न कर देखे। उससे दम्भ और पाखंड के अतिरिक्त और कोई लाभ न होगा।

हमारे पढ़ने वालों को पता है कि हमने संत मत से आध्यात्मिक लाभ उठाया है जो अध्यात्मिक दृष्टि से जातीयता को और दृष्टि से देखता है। परन्तु उस दृष्टिकोण और अध्यात्मिकता में कोई भेद नही रहता। यह भेद व्यवहार में किया जाता है। और जब हम व्यवहार के जगत में रहकर व्यवहार करते हैं और व्यवहार को व्यवहार जानते हैं तो फिर व्यवहार के नियमों का अनुशीलन कैसे छोड़ सकते हैं। और उससे हानि के अतिरिक्त लाभ क्या है। इस विषय में यह समय अपने आत्म अनुभव से काम लेने का नहीं है। ऋषियों ने जो सनातन से इस कलियुग के लिये हमारे लिये आदेश दिया है उसी पर चलना हमारे लिये कर्त्तव्य है और बस।

इस धर्म की व्याख्या हम अगामी पृष्ठों में करते हैं जो, आशा है, लाभ और ज्ञान के वृद्धि का कारण सिद्ध होगी।

प्रोफेसर मोनियर विलयमसन साहब एम. ए. ने एक बड़ा

ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखा है, इसका नाम "इंडियनविज़डम" है। उन्होंने वह पुस्तक ईसाईयों के दृष्टिकोण से लिखी है हम यह पुस्तक हिन्दुओं के दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हैं।

अपनी समझ में हमने इसमें जो कुछ लिखा है समझ-बूझ कर लिखा है। पक्षपात और क्षुद्र-हृदयता से कहीं भी काम नहीं लिया गया है क्योंकि हम किसी अवस्था में अपने आप को क्षुद्र विचार वाला नहीं बना सकते। यह हमारी प्रकृति के विरुद्ध है। यदि इसमें किसी मनुष्य को कोई ऐसी बात दिखाई दे जो उसके विचार और विश्वास के विरुद्ध प्रतीत हो तो उससे हम प्रेम और शुद्ध हृदय से विचार करने का अनुरोध करेंगे।

हिन्दुओं में अनगिनित उपजातियाँ हैं। ऊपरी और आँशिक दृष्टि से उनके बीच विरोध का दिखाई देना सम्भव है परन्तु समष्टि दृष्टि से उनका हो सकना असम्भव है। भिन्नता प्रिय, अंश दृष्टा और वाह्य दृष्टा को भेद और विरोध का दिखाई देना साधारण बात है। हिन्दू धर्म पूर्ण और विशाल धर्म है। हजारों सम्प्रदायें उसमें विद्यमान हैं। इससे उसकी उसी प्रकार कोई हानि नहीं होती जिस प्रकार कि शरीर को अनगिनित शारीरिक अंगों से कोई हानि नहीं पहुँचती। सम्प्रदायें लाखों ही हैं। प्रत्युत एक-एक मनुष्य का एक-एक मत हो इससे हानि नहीं है। आवश्यकता केवल हिन्दू धर्म के समष्टि और पूर्ण रूप के हृदयांगम करने की है जो एक बार उसकी इस स्थिति को समझ लेंगे, उन्हें फिर किसी प्रकार की शिकायत करने का अवसर न मिलेगा।

शिवव्रतलाल
३१ जौलाई सन् १९१८ ई०

सत्य सनातन आर्य्य-ध

अध्याय—१

हिन्दू धर्म की विशेषतायें

हिन्दू जाति में छूत-छात और जाति-पाँति आदि के बन्धन जान-बूझ कर लगाये गये हैं और वह मनुष्य बड़े अनसमझ हैं जो वास्तविकता को न समझकर अकारण ही उसकी निन्दा में पड़े रहते हैं अथवा उनको तोड़ना चाहते हैं। यह नियम है कि जब तक बन्ध नहीं बाँधा जाता, वर्षा का जल किसी विशेष स्थान में नहीं ठहरता। प्रत्येक वस्तु के रखने के लिये उसमें पात्रता का पैदा करना आवश्यक है। पहले पात्र बनाओ तब उसके अन्दर कुछ रख सकोगे। दूसरे, पौधों के चारों ओर जब तक बाढ़ न लगाओगे तब तक पशुओं के मुँह मारने और उनके चर जाने का भय रहेगा। जब तक पौदा बढ़कर विशाल वृक्ष न बन जाय तब तक इनकी आवश्यकता रहती है। जब वह बढ़ जाता है और ढोरों के मुँह की पहुंच से ऊँचा हो जाता है, तब फिर बाढ़ की आवश्यकता नहीं रहती। यह दो बातें प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के प्रारम्भिक अवस्था के लिये आवश्यक हैं और ऋषियों ने इसकी आवश्यकता का अनुभव करके इन बन्धनों का आदेश दिया। यह दो बातें हैं। तीसरी बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक जाति और प्रत्येक सम्प्रदाय

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY PURNADAYAL

में एक विशेष प्रकार का गुण होता है जो उसकी विशेषता क लाता है और यही गुण उसको दूसरों से भेद कराता रह है। जब तक यह उसमें विद्यमान रहता है तब तक उसके नष्ट होने का भय नहीं रहता और जब यह लोप हो जाता है फिर निश्चय ही मृत्यु आकर गला दबा लेती है और उसको मिटा देती है। इस कारण प्रत्येक जाति और प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है कि वह केवल उस प्रकार के विचारों, पदार्थों और ज्ञान से सम्बन्ध रक्खे जो उस विशेष गुण की पुष्टि करते हों। यदि भूल में पड़कर कोई व्यक्ति दूसरे की देखा-देखी से अनावश्यक नकली बातों में पड़ जाता है तो फिर वह विशेषता उससे छिन जाती है और वह कहीं का नहीं रहता। धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का। यदि कोई व्यक्ति हिन्दू है तो उसमें हिन्दूपन का मान, हिन्दूपन का ढग और हिन्दूपन के विवेचनात्मक सार का होना बहुत ही आवश्यक है। हिन्दू यदि धोती और कुरता पहनते हैं तो तत्काल दूसरों से पहचान लिये जाते हैं और यदि दूसरों के नकली वस्त्रों से सम्बन्ध जोड़ते हैं तो उनके ही जैसे प्रतीत होते हैं और नकली, झूठे, भाँड और पाखंडी बन जाते हैं। वह, वह नहीं रहते. जो वास्तव में थे। इस अनुकरण से जो हानि मनुष्य को पहुँचती है उसका अनुमान कोई नहीं लगा सकता। सबसे पहली हानि तो यह है कि वह अपने जातीय वस्त्रों, जातीय मान और जातीय रहन-सहन को घृणा की दृष्टि से देखता है और छुपे-छुपे औरों को साहस दिलाता है कि वह भी उससे घृणा करें। परिणाम यह होता है कि एक वस्तु की ओर से घृणा करने पर वह अपनी जाति की सारी बातों से घृणा करने लगेगा। और फिर यह क्रम छोटे से प्रारम्भ को लेकर इस प्रकार हाथ पाँव बढ़ायेगा कि मनुष्य अनुकरणशील (नक्काल) ही बनता

चला जायगा और उसको अपने जातीय रंग-ढंग से सदैव लिये दूरी, घृणा और उदासीनता हो जायगी और इस से वह विवेचनात्मक बातें जाती रहेंगी जो उसकी जातीय विशेषता थीं। यह केवल एक आँशिक दृष्टान्त है जो सब जगह घटाया जा सकता है। **फैशन की दिखावट थोड़े दिन की! किसी जाति के वस्त्र, भोजन और रहन-सहन के अनुकरण करने में धरा क्या है। यदि तुम ऋषियों की सादा चाल पर चलकर अपने जीवन को सम्मानित बना लो और चरित्र को बढ़ालो तो यही तुम्हारी वेष-भूषा दूसरों के आकर्षण तथा मनोरंजकता का कारण होगी।** परन्तु यदि तुमने इसको बिना समझे-बूझे तिलाञ्जलि दे दी तो दूसरों की वेष-भूषा अंगीकार करने में तुमको प्रथम तो बहुत समय तक सफलता न होगी, जहाँ जाओगे हंसे जाओगे, दूसरे न हिन्दू ही रहे न अहिन्दू ही ठहरे। तीसरे जब तुमने अपने रंग-ढंग की निन्दा की तो फिर दूसरे भी योंही उसका अपमान करने पर उद्यत हो जावेंगे और फिर विश्वास रखो कि अपने जातीय वेष में तुमको किसी सम्मानित स्थान में जाने की आज्ञा तक न दी जायगी और तुम नीच और अपमानित बने रहोगे। जो मनुष्य अपनी दृष्टि से गिरता है वह अन्यों की दृष्टि में भी गौरव प्राप्त नहीं करता। तुम जब चाहो प्रत्येक बात का अनुभव कर देखो। जब तुम दूसरे जैसों की नाईं बनोगे तो उनके उच्च श्रेणी में तो तुमको स्थान किसी दशा में प्राप्त हो ही नहीं सकता और उनके निम्न श्रेणी में भी तुम्हारा अपमान रहेगा और तुम कहीं के भी न रहोगे।

यह भी एक दृष्टान्त है और साधारण दृष्टान्त है। इसी एक दृष्टान्त को और बातों में भी घटा लो।

यह तीन बातें हुईं। चौथी बात यह है कि हम संसार में केवल इसी अभिप्राय से नहीं आये हैं कि दूसरों ही के प्रभावों को अपने भीतर प्रवेश करते जायँ। प्रत्युत हमारे अपने जीवन का उद्देश्य यह भी होना चाहिए कि हम औरों पर भी प्रभाव-शाली होते रहें। हम में प्रभाव है और वह अत्यन्त प्रबल प्रभाव है। प्रभाव नाम है संस्कार का। ऋषियों ने हमारा संस्कार विशेष प्रकार से करके हम को संस्कारवान और प्रभाव शाली बनाया है। हम संस्कृत जाति हैं। हमारा धर्म संस्कृत है और हमारी धार्मिक भाषा तक संस्कृत है। अन्य जातियों का संस्कार इस प्रकार नहीं किया गया जिस प्रकार हमारा किया गया है। हिन्दू को माता के गर्भ में आने से पहले ही हिन्दू-पन के संस्कार दिये जाते हैं। औरों में यह नहीं है। कैसे खेद की बात होगी यदि हम अनसमझी में पड़कर इस पवित्र संस्कार को दूर कर दें और अन्यों के असंस्कृत संस्कारों को ग्रहण कर लें। जिन संस्कारों के प्रभावों से हिन्दू जाति बनाई गई है उनमें ठोसपना, दृढ़ता और स्थिरता है। दूसरे इनसे यद्यपि नितान्त हीन नहीं है परन्तु उनमें यह न्यूनता के साथ होती हैं, वह कुछ शताब्दियों ही में गा-बजा जायेंगी। हिन्दू जगत की स्थिरता के समय तक जीवित रहेंगे और गिरते-पड़ते किसी न किसी रूप में अपने अस्तित्व के स्थिर रखने में सफल होंगे। जो व्यक्ति कि हिन्दुओं को छोड़कर औरों में मिल गये वह रोगी अंग की भाँति थे। उनके दूर होने से इतनी हानि नहीं हुई क्योंकि रोगी और मृतक का जीवन मिला जुला होता है। सड़ा गला हाथ यदि कट गया तो उस पर खेद न करो। यदि वह तुम में रहता तो सारे शरीर को विषैला बना देता।

इन बातों के कहने का अभिप्राय केवल यह है कि कोई समझ बूझकर प्राचीन और करोड़ों वर्ष के संस्कार को ध... न पहुँचाये नहीं तो घोड़े और गधे आदि की नाईं खच्चर होकर वह शीघ्र संसार से बिदा हो जायगा।

पाँचवी बात यह है कि हिन्दू जाति का इस संसार में विशेष प्रकार का मिशन (कर्त्तव्य) है। मिशन कहते हैं कर्त्तव्य, धर्म, ड्यूटी, संदेस आदि को। यह संसार में विशेष प्रकार के कर्त्तव्य पूरा करने के लिये आई है। विशेष प्रकार का धर्म सिखाने आई है। विशेष प्रकार का सन्देस सुनाने आई है और जब तक वह अपने धर्म पर, अपने कर्त्तव्य पर, अपने पद पर और अपने संदेस वाहकता की स्थिति में दृढ़ है तब तक उसको मृत्यु का भय नहीं है। मरते हैं वह लोग जिनका कार्य समाप्त हो जाता है और फिर जिनके काम की आवश्यकता नहीं रहती। प्रकृति के गोदाम में मृत पदार्थ नहीं रखे जाते। जहाँ कोई मरा प्रकृति की शक्तियाँ स्वयं आक्रमण करके उसे छिन्न भिन्न करके दृष्टि से ओझल और नाश कर देती हैं। जातियों को देखो, व्यक्तियों की ओर दृष्टिपात करो और सृष्टि अथवा संसार की प्रत्येक वस्तु की अवस्था पर विचार करो, तुम स्वयं इसको समझ जाओगे। अधिक कहने की आवश्यकता न रहेगी। जातियाँ आती हैं जाती हैं। वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं, मर जाते हैं। मिश्रित पदार्थ बन-बनकर बिगड़ते रहते हैं। हिंदू अरबों बरस से आखिर क्यों जीवित हैं। कोई न कोई रहस्य इसमें अवश्य है और उस रहस्य का पता लगाना प्रत्येक समझदार और विचारशील का धर्म है। हिन्दुओं की संख्या यद्यपि कम हो परन्तु खाने में नमक की मात्रा कम ही होती है और सारे भोजन को वह नमकीन बना देती है। हिन्दू संसार के नमक हैं और वह इस अभिप्राय से आये हैं कि सब को

अपना नमक प्रदान करते रहें। यह उनका पद है। यह उनकी स्थिति है, यह उनका धर्म है और यही इस संसार में उनके जीवन का कर्त्तव्य (मिशन) है। इस मिशन की यहाँ हर समय आवश्यकता है। कभी ऐसा समय न आयेगा जब इसकी आवश्यकता न रहेगी। और जब इसकी आवश्यकता है तो फिर उसके लिये मरने, मर जाने या मर मिटने का भय कहाँ है?

परन्तु यह मिशन क्या है? इस पर विचार करना हमारा कर्त्तव्य है।

जो लोग इन ऊपर की पंक्तियों को पढ़ेंगे सम्भव है हम को तंग दृष्टि, कन्सर्वेटिव और कट्टर कहें। यह उनकी भूल होगी। हम वास्तव में ऐसे नहीं हैं। हमको स्वयं पता है कि हम स्वतंत्र विचार वाले हैं, हम दिव्य हृदय वाले हैं, हम हर बात की जड़ तक पहुंचने का विवेक रखते हैं। कोई बात बिना समझे-बूझे मुँह से नहीं निकालते। हमको सब से प्यार है। हम किसी धर्म के खंडन अथवा जड़ खोदने को पसन्द नहीं करते और न किसी की निन्दा करते हैं। सब के साथ प्रेम का व्यवहार करते हैं और सब को सत्यता का ज्ञान देते हैं। इस अवसर पर भी हम सच्ची सच्ची बातें कह रहे हैं। हाँ! यह सम्भव है कि हमारी बात किसी-किसी की समझ में न आवे।

स्मरण रहे कि संसार का प्रत्येक जाति का प्रारम्भ, पोषण, पूर्णता और बढ़त विशेष प्रकार के विचारों के आधीन हुआ करती है। जिस जाति की नीवें जिस विचार पर होती हैं उसी ओर उसकी दृष्टि रहती है और उसी प्रकार के भावों, विचारों और भ्रमों का उससे प्राकट्य होता रहता है और वह उनकी समझ, काट-छाँट और आविष्कारों का सामर्थ्य रखती है। योरप की दूध की घुट्टी में विशेष प्रकार के विचारों की औषधि

मिलाई गई थी। इसीलिये वह उसी प्रकार के उमंग और साहस रखता है। चीन और जापान का मानसिक आदर्श कुछ और ही है और इसलिये वह औरों की अपेक्षा से उस की सबसे अधिक समझ रखते हैं। कोई व्यापार का प्रेमी है कोई कला-कौशल का और कोई भोग-बिलास, राज्य और अधिकार का। यह उनके जातीय तथा देशीय जीवन का विशेषता है। वह जितना इन बातों में पूर्णता दिखायेंगे, वह दूसरों से सम्भव नहीं है और न कोई जाति अथवा व्यक्ति इन बातों में उनका अनुकरण करके उन पर विजयी हो सकता है। हमारी जातीय नींव के नीचे ऋषियों ने विशेष प्रकार के विचारों की कंकरीट दी है और इस कारण से हम जिस प्रकार उसको समझ सकते हैं, दूसरों से ऐसा हो सकना असम्भव है।

यह विचार क्या है। एक बात का पता लगा लो और मृत्यु का वह भय, जिसका स्वप्न औरों को सताया करता है, दूर हो जायगा। वह विचार यह है कि "हम इस संसार में आध्यात्मिकता के कोष के स्वामी, अधिकारी और दानी बनकर आये हैं"। "हमसे अधिक अच्छा इस विषय को कोई जाति और किसी जाति का कोई व्यक्ति सुन्दरतम रीति में नहीं समझ सकता" इतिहास पढ़ो! काल के वर्णन और घटनाओं को देखो, सुनो और तुमको पता लग जायेगा कि इस विशेष-विशेषता के दृष्टिकोण से हिन्दू सर्वश्रेष्ठ हैं। पहले भी श्रेष्ठ थे, अब भी श्रेष्ठ हैं और आगे चलकर भी श्रेष्ठ ही रहेंगे। हमारा चाहे सब कुछ छिन जाये परन्तु यह निधि हमसे कोई भी नहीं छीन सकता। जब हम इस पर अधिकार रखते हैं, हमको न और किसी वस्तु की खोज और इच्छा है और न हम अपने आप को दीन और अपमानित समझ सकते हैं।

अब भी किसी हिन्दू के लड़के को देखो, वह कर्म, आवागमन मुक्ति, आत्मा और निर्माण आदि सिद्धान्तों का इच्छुक दिखा देगा क्योंकि यह विचार प्रारम्भ ही से उसकी घुट्टी में दिया गया है और हमारे जातीय जीवन का इस संसार में यही मिशन है कि हम सबको आध्यात्मिकता का पाठ पढ़ायें। हम ऋषियों की संतान हैं। ऋषियों ही की संतान ऋषि होती है। हमारा गोत्र अथवा हमारी सन्तति का क्रम महाराजाओं से नहीं चलता। हमारे [illegible]-महाराजे तक अपनी उत्पत्ति का क्रम ऋषियों से मिलाते हैं और इसलिये यह आवश्यक है कि ऋषियों की सन्तान सीधी-सादी हो, सभ्य हो, आध्यात्मिकता प्रेमी हो। मन के वश कर रखने के भेद से जानकार हो और संसार को आध्यात्मिकता का ज्ञान देती हुई उसे नमकीन कर दे। यह हमारे जीवन का वास्तविक और जातीय मिशन है। प्रत्येक हिन्दू देवता, अवतार, महात्मा, संत होने का स्वाभाविक गुण रखता है। यदि वह अपने अधिकार और विशेषता को समझ ले तो फिर वह कभी अन्यों को देखकर नक्काल और भांड बनने की भूलकर भी इच्छा न करेगा। "साधारण जीवन और उच्च विचार" यह हिन्दूपन की शान है।

परम संत कबीर साहब जाति के मुसलमान थे। आजन्म संत थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों को चिताया। मुसलमान उस समय में उनके शिष्य अधिक हुये। वह जातीयता के दुखदाई भेद भाव को आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में पसन्द नहीं करते थे और हम स्वयं इस दृष्टि से जातीयता को कहाँ श्रेष्ठता देते हैं परन्तु उन्होंने देखा कि ऋषियों की सन्तान ही सच्चे अर्थ में आध्यात्मिकता निधि की अधिकारी है और उसके प्रचार के भी योग्य हैं, आपने अपने पुत्र शाहकमाल को, जो मुसलमान था, गद्दी नहीं दी। यह मान धर्मदास ही को प्रदान

किया। यह भेद है जो प्रत्येक सूक्ष्म दृष्टा के सोच के योग्य है।

पाँच बातें होलीं। छटी बात की ओर ध्यान दो जो अति आवश्यक है। हम क्या खोल-खोल कर कहें। सुनने, समझने और जानने वाले कम मिलते हैं। फिर भी जो लोग इन पंक्तियों को साधारण दृष्टि से देखेंगे, सम्भव है हमारे विचारों को औरों तक पहुँचावें और वह भी सावधान हो जाँय। यह छटी बात क्या है? इसे भी सुन लो।

संसार में प्रत्येक जाति में विवेचनात्मक, व सामाजिक अवस्था विद्यमान है। संसार में प्रत्येक स्थान में बड़ाई छोटाई विद्यमान है। बड़े बड़ों से सम्बन्ध रखते हैं, छोटे छोटों से सम्बन्ध रखते हैं। उनके यहाँ बड़ाई की माप केवल धन और मान है। हमारे यहाँ इसके विपरीत वर्ण, विवेक और जाति पाँति है। उनके यहाँ कसाई, चूड़ा और मोची यदि रुपया वाला हो जाय तो महाराजा तक की लड़की ले सकता है और बड़ा बन सकता है। हमारे यहाँ उसकी सम्भावना कठिन है। हम अपने गरीब से गरीब सजातीय को लड़की देंगे और केवल अपने स्वजातीय के साथ ही एक ही चौके पर बैठकर खा सकेंगे। दूसरों को न तो हम अपने मध्य सम्मिलित करेंगे और न उसके सम्मेलन को अपने अथवा उसके लिये माननीय समझेंगे। यह हिन्दू जाति की विशेषता है।

ऐसा क्यों है? इसका कारण यह है कि ऋषियों ने समझ-बूझ कर वर्ण, विवेक अथवा जाति-पाँति की नींव डाली थी। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र एक प्रकार से प्राकृतिक विभाग हैं। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र के क्रम में जाति के सदैव के लिये दृढ़ बनाने का उद्योग किया गया था। यह ऋषियों की

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

युक्ति थी और इस युक्ति में बहुत बड़ी बुद्धिमानी है। ऊँच जातियाँ सूक्ष्म बनकर भाप की नाईं शीघ्र लोप हो जाती हैं. उनके नाश हो जाने का भय लगा रहता है, उनकी सन्तान भी कम होती है। इस हेतु आवश्यक था कि इस प्रकार सामाजिक अवस्था का प्रबन्ध किया जाय कि बड़े-छोटे का काल्पनिक भेद-भाव स्थित रहे और सारी जाति कुसमय के आक्रमणों के प्रभाव से नितान्त नाश को प्राप्त न हो जांय। यही एक कारण है जिससे हिन्दुओं की जन-संख्या में भेद नहीं पड़ता। यह कोई न समझे कि इस बन्धन से जाति को हानि पहुँच रही है। कभी नहीं। जो ऊपर की ओर उन्नति करने के योग्य हैं उनकी उन्नति को भी कोई नहीं रोकता और साथ-साथ वर्ण, विवेक का क्रम भी विद्यमान है। जिन्होंने अग्नि कुल क्षत्रियों की उत्पत्ति का वृतान्त सुना है अथवा स्वामी-शंकराचार्य्य के ब्राह्मण बनाने की घटनाओं से भिज्ञ हैं, अथवा गुरु गोविन्दसिंहजी के खालसा पंथ की नींव रखने के रहस्य को जानते हैं वह इस भेद को भली भाँति समझ जायेंगे। अब भी हिन्दुओं के बीच उन्नति का मार्ग बंद नही हुआ है। छोटी जातियाँ ऊपर के श्रेणियों में व्यक्तिगत अथवा जातीयगत अवस्था में बिना विज्ञापन के चढ़ती जा रहीं हैं और नीचे की नींव को तनिक भी डगमगाने का भय नहीं है।

ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र का विभाग और भेद किसी अभिप्राय से किया गया था। यदि यह न होता तो सब एक समान होकर अब तक कबके लोप हो गये होते, जैसी औरों की दशा हुआ करती है। इसी बन्धन ने हिन्दुओं को किसी न किसी रूप में जीवित रख छोड़ा है। इन चारों वर्णों के लोग सब हिन्दू कहलाते हैं। वह हिन्दू अत्यन्त मूर्ख हैं

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

और पथ-भ्रष्ट हैं जो इनमें से किसी का अपमान करते यह भ्रम में पड़े हुये हैं और उनके भ्रम को समय की घटनाय स्वयं दूर करती चली जा रहीं हैं।

सातवीं बात यह है कि हिन्दू अपने धार्मिक और जातीय दुर्ग को इस प्रकार सुदृढ़ रखते हुये अपना आश्रय और सहायता दूसरों को प्रदान करता है परन्तु साथ-साथ बहुत सावधान भी रहता है। जिन लोगों का यह विचार है कि हिन्दू प्रचारक धर्म नहीं है वह अत्यन्त मूर्ख हैं। हम बार-बार कहते आ रहे हैं कि हिन्दू जाति का संसार में विशेष मिशन है परन्तु वह अपने मिशन का साधारण मतों की भाँति प्रचार नहीं करता। हाँ काम करने के ढंग भिन्न हैं। वह तुर्क, तातार, जैनी, पारसी और मुगल आज कहाँ हैं जो पहिले इस देश के भागों में राज्य कर चुके थे? क्या वह हिन्दुओं में लीन नहीं हो गये? यह स्यामी, भूटानी इत्यादि हिन्दुओं से भिन्न होते हुये भी अब हिन्दू बन गये हैं। हिन्दुओं के मिशन का कार्य्य सावधानी के साथ होता है जिससे जाति में मिश्रण भी न हो और लोग आध्यात्मिकता से लाभ भी उठाते जाँय। इस पर हमको अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। विवेकी और सूक्ष्म दृष्टा लोग इसको जानते हैं।

बुद्ध भगवान हिन्दू थे। धर्मों के ऐतिहासिक जगत में इनका धर्म सर्व प्रथम प्रचारक मत था। बुद्ध धर्म स्वयं क्या है? यह शुद्ध और स्पष्ट हिन्दू पंथ है। और इस प्रकार से सारे चीनी, जापानी, स्यामी इत्यादि हिन्दू ही तो हैं; परंतु चूंकि इनमें वर्ण विवेक नहीं है इस कारण इनको हिन्दू कहते हमको संकोच होता है। भगवान बुद्ध ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि के विवेकात्मक श्रेणियों को स्थापित कर रखा था।

उनके समय में कोई विघ्न उपस्थित नहीं हुआ। तत्पश्चात उनके शिष्यों ने उनको धक्का पहुँचाना चाहा। अन्त में हिंदुओं ने इस पंथ को सोच समझ कर बहिष्कृत और निर्वासित कर दिया। यदि यह चेले उनके पद चिन्ह पर चले होते तो यह दशा न होती। ऋषियों की दिव्य दृष्टि सहस्रों और लाखों वर्षों की घटनाओं के दृश्य देखने की शक्ति रखती थी। झूठे सर्व-भौम मानुषी भ्रातृत्व के धोके में पड़ कर हिंदू धर्म को हानि पहुँचाना बड़ी भारी भूल है। आज ब्रह्मा, चीन आदि की दशा देखो। वहाँ क्या हो रहा है। अब उनको अपनी जातीयता तक के लाले पड़ रहे हैं और वह मान रहे हैं कि यदि उनके मध्य वर्ण विवेक की व्यवस्था होती तो आज यह अवस्था न होती।

हिंदू आध्यात्मिकता का लाभ तो हर जाति को देते हैं परंतु सामाजिक अधिकार देने में सावधान रहते हैं और उनकी आवश्यकता भी नहीं है। शताब्दियों के पश्चात् अन्य जातियाँ हिंदुओं में स्वयं मिल कर रहती हैं और कबीर साहब के समय से लेकर अब तक सन्तों ने विशेषतया इस सावधानी के नियम को कभी शिथिल नहीं किया और यदि करोड़ों नहीं तो लाखों अहिंदू आज हिंदू जाति में सम्मिलित हैं। सारांश यह है कि वर्ण विवेक की व्यवस्था को तोड़ना हिंदू धर्म को वास्तविक अर्थ में भारी हानि पहुँचाना है।

इसी शताब्दी में जिन महात्माओं का प्रादुर्भाव हुआ उन्होंने भी स्वयं इस सावधानी को ध्यान में रक्खा परन्तु उनके अन-समझ शिष्यों ने सिद्धांत को नहीं समझा। अन्यों का अनुकरण करने लगे। परिणाम क्या हुआ? उनका मिशन असफल हो रहा है। और वह केवल सामाजिक बन कर विवश हैं कि

हिन्दू धर्म ही के चारों ओर अपनी अनसमझी से गोला बा
करते रहें। इनमें न सावधानी का सिद्धान्त बरता जा रहा
और न सभ्यता का। प्रत्येक मनुष्य मिथ्या सामूहिक विचार
के धोके के जाल में आकर ऐसे आदरणीय महा पुरुषों के
कार्य्य को बड़ा धक्का पहुँचा रहा है जिसका उपचार दृष्टि में
नहीं आता और आशा नहीं कि उनके मिशन कभी पूरे होंगे।
जिस मत में गुरु जनों के आदर का ध्यान नहीं होता, जिसको
छेड़ छाड़ के अतिरिक्त और छिद्रान्वेषण को छोड़ कर और
कुछ नहीं आता, उसके दिन गिने हुये हैं। वह अन्यों के अनु-
करण में सम्भव है सामाजिक हो जाय परन्तु आध्यात्मिकता
से हीन रहेगा और जिसमें आध्यात्मिकता न आयेगी वह
ठोस, सुदृढ़ और स्थायी न होगा और न उसका कार्य्य वास्तविक
अर्थ में महान ही होगा। धर्म स्कूल, कालेज, अनाथालय नहीं
बनाया करता। वह आदमी बनाता है और अपनी बारी पर
आदमी यह सब सामाजिक कार्य्य करने लगते हैं।

हिन्दू जाति की यह विशेषतायें हैं और हम चाहते हैं कि
जो लोग इन पंक्तियों को पढ़ें ध्यान देते हुये उनके तात्पर्य को
अपने मन के अन्दर धारण करलें जिसमें वह स्वयं आध्या-
त्मिकता प्रेमी बनें और औरों को भी हिन्दुओं के आध्यात्मिकता
की सम्पत्ति प्रदान कर सकें। यही इस लेख का अभिप्राय है।

आगामी अध्यायों में हम हिन्दुओं के उन आध्यात्मिक
कोषों का थोड़ा सा दृष्य अपनी विशेष दृष्टि से दिखायेंगे जिन
में आध्यात्मिकता के मणि माणिक भरे हुये हैं। पाठकगण
इन को ध्यान पूर्वक देखें। हमारी वर्णन शैली सबसे भिन्न
होगी, परन्तु चूँकि भीतर सचाई है इस हेतु वह अपने
प्रभाव से रहित न होगी।

दूसरा अध्याय

पवित्र वेद

प्रथम खंड

वेदों के सम्बन्ध में भिन्न २ मत

संसार में जितनी भ्रान्ति पवित्र वेद के समझने में की जा रही है कदाचित ही किसी विषय के सम्बन्ध में की गई होगी। मजा यह है कि श्रद्धालु, अश्रद्धालु दोनों ही भ्रान्ति में पड़े हुये मूर्खता के बहाव में बहे जा रहे हैं।

आज हम इन वेदों के विषय में अपनी नवीन युक्ति उपस्थित करते हैं। सम्भव है कि हमको भी लोग भ्रान्त कहें। और भ्रान्त ही क्यों कदाचित वह हमें बौरा (मूर्ख) कहने लग जाँय। परन्तु क्या हानि है ? जब सब लोग अपने २ मत का प्रकाश करते चले आये हैं तो फिर हमको क्यों अपने मत के प्रकट करने में संकोच करना चाहिये। प्रत्येक को अपने भाव और विचार के प्रकट करने की स्वतंत्रता है। अगर बुद्धिमानों ने बहुत सी बातें कहीं हैं तौ बौरा भी तो अपनी एक बात कह ले। बुद्धिमानों की बातें बहुत होती हैं। बौरा केवल एक बात कहता है। बुद्धि की बात उलझन की होती है। बौरे पन की बात सीधी सादी होती है। उसको सुन कर सम्भव है कि कोई एक आदमी तो सोचने समझने लग जाय परन्तु नौसौ निनान्वे आदमी तो मुख पर रूमाल रख कर हँस ही देंगे।

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

यह वेद क्या हैं। आजकल के पढ़े-लिखे हुए विद्वान इ या तो आदि मनुष्यों के विचार कहते हैं अथवा आदि ऋषि के विचार धाराओं की छन्द-रचना बताते हैं जिनमें कहीं-कहीं चमकते हुये मणि दिखाई दे जाते हैं। स्वयं हमारे बीच जो समझदार मनुष्य हैं वह भी एक मत नहीं हैं। आपको सुनकर हँसी आयेगी। एक कालेज के प्रोफेसर साहब जो वेदों की श्रेष्ठता पर उपदेश देते फिरते थे, एक दिन हमारे समक्ष कहने लगे कि "वेद केवल प्रारम्भिक काल के कुछ समझ-बूझ रखने वाले मनुष्यों के साधारण विचार हैं।" हमने कहा- "फिर आप इस प्रकार गला फाड़-फाड़ कर वेद-वेद क्यों चिल्लाते रहते हो।" आप ने उत्तर दिया। "हिन्दुओं की मूर्ख-मंडली और किसी प्रकार हमारी बात सुनने के लिये उद्यत न होगी। इस कारण हमने वेदों द्वारा उनको अपनी ओर आकर्षित कर रखने का साधन बना रखा है।" हम सुनकर आश्चर्यान्वित हो गये, क्योंकि हमारी दृष्टि में वेदों का सबसे अधिक सम्मान है। उसी समय से हमने प्रोफेसर साहब और उनके सहमत मनुष्यों का साथ छोड़ दिया, क्योंकि उनकी बातों में दम्भ का समिश्रण था। हम लाख अनसमझ हों, अविवेकी हों, पाश्विक हों, सब कुछ हों परन्तु दम्भी नहीं बनना चाहते और हमारी वर्षों से अपने सम्बंध में यह प्रार्थना थी कि मालिक हमको सचाई के समझने की विवेक-शक्ति देकर सच्चे मार्ग पर लगाये और केवल सचाई के नाम पर हमारी भावनायें, विचार, माँस, त्वचा और सब कुछ, लौकिक और पार लौकिक सम्बन्ध न्यौछावर हो जाय, हम बच्चों की भाँति सरल प्रकृति और सरल स्वभाव रहें। चाहे हमारी समझ-बूझ तक अच्छी न हो परन्तु हम जिस विचार को ग्रहण करें, सचाई के साथ ग्रहण करें, और उसी पर

जान, माल, मन, मस्तिष्क और तन-बदन सब न्यौछावर करते रहें। हमारी दृष्टि में श्रद्धा, भक्ति और विश्वास ही सब कुछ है। श्रद्धा, भक्ति का कष्ट हमको पसन्द है परन्तु दम्भ के चैन, सुख, सम्पत्ति और अधिकार हमको कभी किसी अवस्था में प्राप्त न हों। हम पापी हों, अधर्मी भी हों, निर्बल और दुर्बुद्धि मनुष्य हों, परन्तु सचाई और बच्चों की सरलता और सरल स्वभाव से हम कभी वंचित न किये जाँय। हम अब तक भी ऐसी ही रोज प्रार्थना करते रहते हैं और यद्यपि हम किसी न किसी स्थिति के बुरे भले लेखक और पुस्तक रचियता समझे जाते हैं परन्तु बच्चों की सरल श्रद्धा हम से दूर नहीं हुई। हम वेदों को इस स्थिति में न पहले समझते थे जिस स्थिति में हमारे विद्वान समझते हैं और न हम पाश्चात्य विद्वानों के साथ सहमत होकर उनको आदि जंगली मनुष्यों की वाणी समझते हैं और न इसके साथ ही हम "मूर्ख मंडली" के फंसाने का उनको पाश बनाना चाहते हैं। जिसका जी चाहे हमको अनसमझ और बौरा कहे, ऐसा कहलाना अभीष्ट है परन्तु दम्भ के सौ में से एक दर्जे को भी हम पसन्द नहीं करते। यह कारण है कि दिखावटी वेद पूजकों के समाज में सदैव सम्मिलित रहना हमारे मानसिक वेदना का कारण हुआ और हम उनसे सम्बन्ध विच्छेद करने पर विवश हुये। हमको हुजूर महाराज के चरण कमलों के नीचे बैठने का अवसर प्राप्त हुआ और वेदों की श्रेष्ठता, महत्ता और वास्तविकता के सम्बन्ध में हमको जो कुछ शिक्षा दी गई उसको ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया। हम वेदों को किसी और दृष्टि से देखने के अभ्यासी बन गये हैं जिसकी व्याख्या हम इसी विषय के क्रम में अपने टूटे-फूटे शब्दों में करेंगे। हम यह कभी दावे के साथ नहीं कहते कि हमारा विचार अकारण ही वेदों के सम्बन्ध में

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY PURNADAYAL

में सच्चा ही है और न हम किसी को विवश करते हैं कि व भी बिना हमारी दृष्टि प्राप्त किये हुये उनको इसी रूप में देखें. हाँ, हम जो वेदों को समझ रहे हैं वह हमारी अपनी समझ है। हमको क्या अधिकार है कि हम दूसरों को कहें कि वे हमारी सम्मति को सच्ची मान लें और उसकी आधीनता स्वीकार कर लें। हमारी सम्मति हमारे साथ, उनकी सम्मति उनके साथ। वेदों के सम्बन्ध में बहुत से लोगों का यह विचार है।

दूसरा विचार यह है कि वेदों की आयु ईसामसीह के सम्वत् से पन्द्रह सौ अथवा एक सहस्र वर्ष से अधिक नहीं है। अन्वेषण करने वालों ने खोज की। खोज में बाल की खाल निकालने में उन्होंने प्रयत्न का कोई भी अंश नहीं छोड़ा। उनका अन्वेषण कई प्रकार से सराहनीय है, इससे हमको इन्कार नहीं है। यह क्या कम है कि वह इसी खोज के आधार पर वेदों को संसार के पुस्तकालय की सबसे प्रथम पुस्तक स्वीकार करते हैं और समस्त धार्मिक पवित्र पुस्तकों में उनको सबसे अधिक प्राचीन मानते हैं, यह भी बहुत है। भिन्न २ विश्वासों के प्रभाव में आकर उनका इतना स्वीकार करना भी हमारे सम्मान का अधिकारी है और हम उनके इस अन्तिम निर्णय को फिर भी आदर के कानों से सुनते हैं। यह अन्वेषक अपने ढंग पर झूठे नहीं हैं, वह सच्चे हैं। परन्तु हम इस विशेष विषय ही के सम्बन्ध में केवल इतना कह सकते हैं कि उनकी इस वर्णन शैली में केवल अपेक्षाकृत सत्यता है। वह इस जगत को पाँच-छः सहस्र वर्ष से अधिक नहीं समझते, और यदि वह अपनी विशेष धार्मिक शिक्षा से प्रभान्वित हो कर इस पाँच सहस्र वर्ष के काल के भीतर हिन्दुओं की धार्मिक पुस्तक को सर्व प्रथम मानते हैं तो हमको उनके वर्णन के सत्य होने में क्यों शंका करनी चाहिये। जब

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY PURNADAYAL

वह स्वयं अपनी धार्मिक पवित्र पुस्तकों से वेदों को प्राची ठहरा रहे हैं तो फिर वह झूठे तो नहीं हो सकते। हाँ, य सम्भव है कि संसार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उनका विचार असत्य हो और जब उनकी यह भूल सिद्ध हो जायगी तो हम सहज ही यह आशा कर सकेंगे कि यह न्याय प्रिय समाज अपने इस निर्णय को भी बदल देगा।

तीसरा विचार यह है कि वेद ईश्वरीय पुस्तकें हैं। इस विचार को आधुनिक विचार के हिन्दुओं ने ईसाई, मुहम्मदी, यहूदी और पार्सियों से लिया है। इन मतों का विश्वास है कि ईश्वर धार्मिक उपदेश देने के लिये इस प्रकार के नियम स्वयं प्रदान किया करता है। किसी का विचार है कि यह किताब सरोश (ईश्वरीय दूत) लाता है। पार्सी ऐसा समझते हैं। किसी का यह मत है कि जिबरील इसे लाया करता है यह मुसलमानों का विश्वास है। ईसाई और यहूदी इसको रूहुलक़दस (पवित्रात्मा) की देन समझते हैं और वह अपने अनुयाइयों को विश्वास दिलाते हैं कि उनकी पवित्र पुस्तकें पवित्रात्मा के द्वारा लेख बद्ध हुई हैं। इन सब के देखा देखी इस समय के हिंदू भी वेदों को इसी प्रकार की ईश्वरीय पुस्तकें मानने लग गये हैं, जिनका ज्ञान अंगिरा, सूर्य, अग्नि और वायु आदि ऋषियों को हुआ था और उन्होंने ब्रह्मा को पढ़ाया और ब्रह्मा ने उन्हें मनुष्यों के अर्पण किया। यह विचार हानिकारक नहीं है। यदि इसी पर लोग श्रद्धा और भक्ति की दृष्टि से स्थित हो जाँय तो क्या कहना है। स्वयं मार्ग साफ होता जायगा और कभी न कभी वास्तविकता लोगों की समझ में आप आजायगी।

यह इस समय के विचार हैं। परन्तु स्वयं प्राचीन हिंदू क्या कहते हैं? उनका दावा भी तो सुनने के योग्य है। इस

समाज का विश्वास है कि (१) वेद सत सनातन हैं (२) कामधेनु गाय हैं। (३) वेद स्वतः प्रमाण हैं (४) वेदों ज्ञान साधारण मनुष्यों को नहीं होता (५) वेद प्रचार करने, अनुवाद करने अथवा जन-साधारण में फैलाने की वस्तु नहीं हैं और न उनका कभी प्रचार हुआ, न होगा और न हो सकता है।

अन्त की दो बातों को वेद के संहिता भाग से सम्बन्धित समझना चाहिये।

यही कारण है कि प्राचीन समय से लेकर अब तक हिन्दुओं ने कभी किसी समय में वेदों को जन-साधारण की सम्पत्ति बनाने का प्रयत्न नहीं किया और वैदिक धर्म इस विशेष दृष्टि से संसार का प्रचारक मत नहीं हुआ।

आखिर ऐसा क्यों हुआ। क्या हिन्दू अनसमझ और अज्ञानी थे। समय कहता है, नहीं, वह अनसमझ नहीं थे। तो फिर वेदों की सम्पत्ति जन-साधारण को क्यों नही प्रदान की! यह एक प्रश्न है जो विवाद में आने के कारण विशेष प्रकार से रोचक होगा। इन्हीं सब ऊपर की बातों को ध्यान में रखकर हम अपने ढंग पर वेदों के ज्ञान पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

दूसरा खंड

ऋषियों के विचार में वेद क्या हैं।

वेदों के सम्बंध में भिन्न-भिन्न समाजों के विचारों को प्रकट कर दिया गया। वेद स्वयं अपने सम्बन्ध में क्या कहते हैं अथवा ऋषियों ने वेदों की क्या स्थिति वर्णन की है वह भी सुनने योग्य बात है।

वेद संस्कृत शब्द "विद" से निकला है जिसके अर्थ हैं ज्ञान, विद्या, परन्तु यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वेद से किसी अपूर्ण व दिखावटी ज्ञान अथवा विद्या से तात्पर्य नहीं है; प्रत्युत वेद अन्तरीय और आध्यात्मिक ज्ञान है जो पूर्ण है। इस विशेष स्थिति में वह इस त्रिलोकी की सारी विद्याओं का स्रोत है। इस वेद को किसी लेखक अथवा ऋषि ने निर्मित नहीं किया और न वह मानुषी मस्तिष्क की उपज है। वेद जैसा कि प्रथम बताया गया है, स्वयं सनातन और सत्त हैं। वह परिमित भी नहीं हैं, प्रत्युत अपरिमित और सर्वव्यापक हैं। वेद सृष्टि के नियम, प्रकृति के तत्व और संसार प्रबन्ध के कानून हैं, जो निर्विकार हैं। उनमें किसी प्रकार का दोष नहीं है और न उनमें कोई कमी है कि जिसको कोई बुद्धिमान मनुष्य अपनी बुद्धिमानी से पूरी करने का दावेदार हो सकता है। वेद लेखन और प्रवचन दोनों के बन्धन से मुक्त हैं। न वह वाणी से पूर्णतया प्रकट किये जा सकते हैं और न लेखनी उसे लिख सकती है।

अन्त के वाक्य हमारे अपने हैं। प्रथम के सारे वाक्य ऋषियों के विचार हैं। इन हमारे वाक्यों को सुनकर बहुत लोग चौकन्ना हो जायेंगे क्योंकि साधारणतया देखा जाता है कि वेद पढ़े जाते हैं, लिखे जाते हैं, छापे में छापे जाते हैं। प्रत्येक पुस्तकालय में उनकी प्रतियाँ विद्यमान हैं। इस कारण यह हमारा विचार असत्य है अथवा नहीं, इस पर हम फिर विचार प्रगट करेंगे।

मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के तीसरे श्लोक में "वेदो" को स्वयं स्थित कहा गया है। वेद स्वयं कहते हैं कि "वह ब्रह्मा के साँस हैं और बिना किसी परिश्रम अथवा प्रयत्न के

उसकी अदृष्ट शक्ति के कारण वैसे ही निकलते हैं जिस प्रकार प्राणियों के नथनों से साँस निकला करती है।" किन्ही का मत है कि "वह ब्रह्म से इस प्रकार निकले हैं जैसे लकड़ी से धुवाँ निकलता है।" शत-पथ ब्राह्मण का दावा है कि "ब्रह्म ने त्रिलोकी का ध्यान किया, उस ध्यान से तीन प्रकाश प्रकट हुये, अग्नि, वायु और सूर्य्य और इन ही तीनों से, ऋक् साम और यजुः उत्पन्न हुये।" स्मृति भी प्रथम अध्याय के तेईसवें श्लोक में इस की पुष्टि करती है। अथर्व वेद (उनतीसवे भाग के ५४ वे मंत्र में) कहता है कि "वह काल से निकले हैं।" पुरुष सूक्त में उनका पुरुष से निकलना बताया गया है। पूर्व मीमांसा ने वेदों को "अविनाशी शब्द" बताया है जो सदैव से स्थित और विद्यमान हैं और वह किसी गाने वाले, पढ़ने वाले अथवा बोलने वाले के आधीन नहीं हैं। क्योंकि वह सुने गये हैं अथवा सुने जाते हैं इस कारण "श्रुति" हैं और वेदों को इसी कारण से "श्रुति" कहा जाता है। वृहदारण्यक उपनिषद में चौथे ब्राह्मण के दूसरे अध्याय के दसवे श्लोक में भी यह शब्द पाते हैं कि "जिस प्रकार गीली लकड़ी की अग्नि से नाना-प्रकार का धुवाँ, चिनगारी आदि निकलते हैं उसी प्रकार इस ब्रह्म की साँस ऋक, यजुः, साम और अथर्व हैं।"

यह वेदों की वास्तविकता के प्रमाण हैं। यदि वेद वास्तव में ऐसे हैं तब तो वह संसार में अपनी अद्वितीय स्थिति रखते हैं और यदि ऐसे नही हैं तो फिर साधारण पुस्तक से अधिक और उनकी क्या स्थिति है।

इस बात का सिद्ध करना कि "वेद ब्रह्म की साँस हैं," "अविनाशी शब्द हैं," अत्यन्त कठिन काम है। कहने को कोई लाख कहे परन्तु न तो कोई उसे मानेगा, न मानने के

लिये उद्यत होगा। यही कारण है कि आदि से लेकर आज पर्यन्त वेदों के सम्बन्ध में आक्षेपजनक प्रश्नोत्तर और वाद-विवाद को एक दम बंद कर दिया गया और वह केवल अभ्यासियों की सम्पत्ति रह गये और शेष विद्वान और मूर्ख दोनों ही के लिये एक बंद पुस्तक बन गये। विद्वान ब्राह्मण तो खैर दिखावटी ढंग पर उनका पाठ कर लिया करते थे परन्तु अनपढ़ों को न केवल उनका सुनना निषेध था, प्रत्युत उनको सुनाना भी पाप समझा जाता था।

कैसे आश्चर्य की बात है कि वेद यदि ईश्वरीय दात हैं तो सब के लिये उसका लाभ एक जैसा होना चाहिये। परन्तु यहाँ बात उलटी है और स्वयं वेदों से ऐसी अनुचित और अप्रिय बातें प्रकट होती हैं जिसको कोई मनुष्य किसी अवस्था में पसन्द नहीं करेगा। यह एक रहस्य है जो वास्तव में सोचने और समझने के योग्य है। ईश्वर की दृष्टि में ब्राह्मण, शूद्र, शत्रिय और वैश्य सब समान हैं। उसने राक्षसों तक के पक्ष और रक्षा के निमित्त अवतार धारण किये हैं। हिन्दू इसको मानते हैं। परन्तु यहाँ एक अद्भुत बात है कि वेदों के पढ़ने पढ़ाने और सुनने-सुनाने का तनिक भी अधिकार शूद्र और स्त्री आदि को नहीं दिया जाता और बात यहाँ तक है कि अब ब्राह्मण की स्त्री तक को उससे वंचित रखा जाता है। आखिर इस का कोई कारण भी होना चाहिये या योंही है।

इसका कारण स्वयं वेदों की वास्तविकता में है। वेद पक्षपात को नहीं फैलाते और न पक्षपाती बनाते हैं। वेद ईश्वरी ज्ञान हैं। ईश्वरीय ज्ञान से एक प्रमाणु भी व्यवहारिक, सिद्धान्तिक और प्राकृतिक दृष्टि से बंचित नहीं है, और हम स्वयं यहाँ कहते हैं कि कि यह प्रतिबिम्ब वेदों की वास्तविकता में है।

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

वेद क्या हैं ? यदि इस प्रश्न का उत्तर ठीक और वास्तविक ढंग में दे दिया जावे तो अभी यह गुत्थी सुलझ जाय। जिस दृष्टि से शूद्रों को उनका अधिकार नहीं दिया जाता, उसमें यदि अधिक नहीं तो किसी सीमा तक बुद्धिमानी का योग दिखाई देगा। यद्यपि हम स्वयं ईश्वर के ज्ञान से किसी को वंचित रखना पसन्द नहीं करते और हमारी स्थिति ही क्या है जो ऐसा कर सकें। ईश्वर की भांति ईश्वर का ज्ञान स्वयं सब में व्यापक है। उसको कोई किसी से छीन कब सकता है। हाँ, मनुष्य अनुचित भ्रम में पड़कर अपनी गलत-सलत कार्य्यवाही करता रहता है और कर बैठता है जिसको सब घृणा और अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं।

वेद क्या हैं ? एक उत्तर तो यह है कि वेद ईश्वर के ज्ञान हैं। दूसरा उत्तर यह है कि वेद अविनाशी शब्द हैं। और इसी दूसरे उत्तर में वेदों के बंद लगाने और जन-साधारण के उनसे वञ्चित रखने का पता लग जायगा और यही ध्यान देने योग्य विषय है।

वेद शब्द हैं। शब्द क्या है ? शब्द आवाज (ध्वनि) है। आवाज़ क्या है ? जो श्रवण की धार, गति या अगति से उत्पन्न हो वह आवाज़ है। जहाँ और जब दो वस्तुएँ आपस में टकराती हैं वहाँ आवाज़ पैदा होती है। ध्वनि की प्रेरक, उत्पादक और कारण गति है। और हम यहाँ कह रहे हैं कि अगति में भी ध्वनि की सम्भावना है, यह आश्चर्य की बात है अथवा नहीं ? आश्चर्य भी है और नहीं भी है। ध्वनि प्रकृति में एक विचित्र रहस्य है जिस का भेद अभी तक किसी को भी नहीं मिला और शब्द ज्ञान के भेदी तक उससे अनभिज्ञ हैं। गति में तो ध्वनि है। अगति में भी ध्वनि है। आकाश प्रथम तत्त्व है। इसी आकाश के दूसरे रूप वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी हैं।

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY PURNADAYAL

और हमारे शास्त्र कहते हैं कि शब्द आकाश का गुण है। औ इस दृष्टि से यह शब्द आकाश का तत्त्व और आकाश का सा और प्राण कहा जा सकता है। इससे यह तात्पर्य है कि शब्द के बिना आकाश की सम्भावना भी कठिन है। परिणाम यह निकलता है कि फिर शब्द आकाश से भी सूक्ष्म है और वह सत्य भी है। इसी दृष्टि से वेदों ने शब्द को ब्रह्म या ब्रह्म को शब्द कहा है। प्रणव शब्द है और शब्द प्रणव है। जिसको हम 'ओउम्' कहते हैं वह भी शब्द ही है। शब्द से अधिक उसकी और क्या स्थिति है।

यह शब्द अगति की अवस्था में भी उसी प्रकार अन्तर ही अन्तर अथवा अन्तर बाहर गूँजता रहता है जैसे जल के भीतर और जल के ऊपर भाप की अवस्था होती है। जल के इस दृष्टान्त में उसके प्रमाणुओं के भीतर गति का प्रश्न उठाया जा सकता है और खेद है कि इस संसार में हम कोई भी ऐसा दृष्टान्त नहीं दे सकते जिसको हम गति शून्य दिखा सकें। आकाश, पृथ्वी, तैंतीस कोटि देवता, रुद्र, वसु, आदित्य सब ही तो गति में हैं और इन सब की गति में शब्द है और जो वस्तु इनकी गति का कारण हुई है वह भी शब्द ही है। शब्द के अतिरिक्त वह और कुछ नहीं है। क्योंकि सारी गतियों का आरम्भ उसी से होता है, इस कारण हम उसमें अगति का मान स्थापित करते हैं और उसको 'ब्रह्म' कहते हैं। 'ब्रह्म' कहते हैं फैले हुये सर्व व्यापक तत्व को। यह संस्कृत शब्द (वृहद) फैले हुये से निकला है। कौन वस्तु है जो सब में फैली हुई है और फैल रही है? उत्तर मिलता है वह "शब्द" है और इसी कारण से ब्रह्म को शब्द कहा गया है। जब यह शब्द प्रकट होता है तब उसको नाम रूप दिया

जाता है और जब वह प्रकट नहीं होता तो उसे अनाम अरूप कहा जाता है। सत्त पुरूष राधास्वामी साहब की बाणी है:—

शब्द गुप्त तब रहा अनाम। शब्द प्रकट तब धरिया नाम॥

यह शब्द की महिमा है। शब्द अगत है और शब्द गतिशील है अथवा शब्द ही में अगति और गति दोनों विद्यमान हैं। विषय इतना सूक्ष्म और गहन है कि हम जहाँ तक इसकी सविस्तार व्याख्या करते जाँयगे वहाँ तक यह बराबर फैलता ही जायगा, समाप्त होने पर कभी नहीं आयेगा। कहते हैं कि पुरुष और प्रकृति का खेल रचना का कारण है। क्या खेल गति नहीं है। गति अवश्य है और गति में शब्द है। यह शब्द आकाश तक के परे की वस्तु है। प्रकृति में भी गति और अगति दोनों विद्यमान हैं। तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है और जब इन गुणों में न्यूनता या अधिकता आ जाती है तब यही प्रकृति विकृत हो जाती है और उससे रचना का प्रबन्ध होता है। इस कारण इसमें भी गति और अगति है। इसी प्रकार पुरुष में यद्यपि अगति है परन्तु चूँकि प्रकृति उसी से अपनी गति की शक्ति लेती है और गति में शब्द है इसलिये पुरुष स्वयं शब्द से रहित नहीं है और यही कारण है कि इस पुरुष को शास्त्रों ने शब्द रूप कहा है।

ब्रह्म की यह स्थिति है और इसी ब्रह्म से शब्द की गुन्जार उसी प्रकार फूट-फूट कर निकलती रहती है जिस प्रकार हमारे शरीर की नस, नाड़ियों, नाक-इन्द्रिय और शरीर के सारे रोम कूपों और त्वचा के छिद्रों से साँस निकला करती है। साँस नाक से निकलती है। वह प्राण के प्राकट्य की इन्द्रिय है, परन्तु यह कभी न समझो कि और इन्द्रियाँ साँस नहीं

लेतीं। हमारे शरीर के रोम छिद्रों तक से साँस लेने का क्रम हर समय जारी रहता है। साँस इस हमारे शारीरिक प्रबन्ध में मल को निकालते अथवा प्रवेश कराते हैं, या मल को निकालकर अपने भीतर सूक्ष्मता को प्रवेश कराते हैं। हम स्वयं इस दृष्टि से एड़ी से लेकर चोटी तक शब्द स्वरूप हैं। हम हीं क्या कोई ऐसी सृष्टि तुमको दृष्टि-गोचर न होगी जो साँस से रहित हो, क्योंकि सब शब्द स्वरूप हैं। पशु, वनस्पति, खनिज-पदार्थ और तत्वों के प्रमाणु तक में प्रत्येक स्थान में शब्द प्रकट हो रहा है। केवल विचारने और सोचने समझने की बात है। इसलिये यहाँ जो कुछ तुम देखते, सुनते, सूँघते, चखते, छूते और करते-धरते हो, सब ही शब्द का पसारा है। शब्द से रहित कोई वस्तु भी नहीं है क्योंकि जब हमने ब्रह्म तक को शब्द बताया है तो यह सारा जगत स्वयं क्या है? यह ब्रह्म ही से तो निकला है। और जब ब्रह्म शब्द रूप हुआ तो यह क्यों शब्द रूप न होगा। यह सब ही शब्द है। शब्द से हीन कोई भी नहीं है। गुरु बानी है:—

सबकी आदि शब्द को जान। अन्त सभी का शब्द पिछान॥
तीन लोक और चौथा लोक। शब्द रचे यह सब ही थोक॥
शब्द-सुरत दोउ धार समान। पुरुष अनामी के यह प्रान॥
चैतनता सब इनकी मान। शब्द बिना कोई और न आन॥
शब्द गुप्त तब हुआ अनाम। शब्द प्रकट तब धरिया नाम॥
नाम-अनाम शब्द प्रमान। शब्द बिना होय सब की हान॥
जस अग्नि तद रूप पखान। तस तद रूपी शब्द अनाम॥
शब्द ही कारन, शब्द ही काज। शब्द रचाया सगला साज॥
शब्द ही अगम-अलख फिर शब्द। शब्द ही सत्तनाम-सत शब्द॥
शब्द निःअक्षर-अक्षर शब्द। सोहंग शब्द-ररंग भी शब्द॥

ओंम् शब्द-निरंजन शब्द। ब्रह्म शब्द और माया श
शब्द ही जीव-शीव भी शब्द। शब्द से सुरत-सुरत से श
ओत-पोत यों शब्द ही शब्द। ऊँच नीच दोउ शब्द ही शब्द॥
शब्द ही सेवक शब्द ही स्वामी। शब्द ही घट-घट अन्तर यामी॥
शब्द न मरे अमर भी शब्द। शब्द न जरे-अजर भी शब्द॥
शब्द गुरु और शब्द ही दास। शब्द बिना झूठी सब आस॥
शब्द न बिनसे-बिनसे काया। शब्द बिना कुछ हाथ न आया॥
शब्द कहा सब सन्तन सार। शब्द बिना कैसे निरबार॥
शब्द गहीर, शब्द गम्भीर। शब्द बिना झूठी तदबीर॥
शब्द बिना कोई होय न धीर। शब्द बिना पद मिले न थीर॥
शब्द तुड़ावे सब जंजीर। शब्द मिटावे तन मन पीर॥
शब्द ही मछली शब्द ही नीर। शब्द बखानें संत कबीर॥
शब्द बतावें नानक पीर। शब्द लखावें तुलसी धीर॥
शब्द ही बस्तर शब्द ही चीर। शब्द ही माखन शब्द ही हीर[1]॥
शब्द मिले तूखोज शरीर। शब्द बसे नभ त्रिकुटी तीर॥
शब्द बिना सब जीव असीर[2]। शब्द मिले कोई मिले फकीर॥
शब्द ही बम[3] और शब्द ही जीर[4]। शब्द बिना सब मथते नीर॥
शब्द पकड़ सब तेरी सीर[5] शब्द गहे जो वही अमीर॥
शब्द शाह और शब्द वजीर। राधास्वामी कहें सुनो मेरे बीर॥

यह शब्द है, इससे अधिक शब्द की व्याख्या संसार की और किसी धार्मिक पवित्र पुस्तक में नहीं है। सार बचन राधास्वामी नज्म नामी पोथी ६०३ पृष्ठों का भारी ग्रन्थ है। इसमें आदि से लेकर अन्त तक इसी शब्द की महिमा की व्याख्या और वर्णन है। अधिकारियों को यदि अवसर मिले और साथ

नोट—(१) जौहर (२) कैदी (३) बायां (ऊंचा) (४) दायाँ (नीचे) (५) जायदाद

ही यदि परमार्थ की कमाई करने का विचार भी हो तो इस पवित्र पुस्तक का अध्ययन अवश्य करें।

जिस प्रकार प्रत्येक पदार्थ से, चाहे वह चैतन्य हो अथवा जड़, हर समय शब्द प्रकट होता रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म में भी हर समय शब्द की गुन्जार होती रहती है और वह शब्द वेद हैं। वह ब्रह्म के साँस हैं और ब्रह्म के इन्हीं सांसों का नाम ऋक्, यजुः और साम है। यह वेदों की वास्तविक और सच्ची स्थिति है और इसी कारण से ऋषियों ने उनको ब्रह्म के साँस की पदवी देकर उनको भूल से रहित, स्वतःप्रमाण, स्वयंभू और सर्वव्यापक होने का नाम दिया है। उनके अचूक होने को किसी और पुस्तक की सहायता से कोई कैसे सिद्ध कर सकता है। सूर्य्य चमक रहा है। सूर्य्य के दिखाने के लिये दीपक की कब आवश्वकता है। वह अपना आप प्रमाण है। इसी प्रकार इन वेदों के वास्तविक अस्तित्व का प्रमाण किसी ऋषि के भी बचन के बन्धन में करना बड़ी मूर्खता, भूल और अज्ञान है। सबके बचन वेदों के आधीन कहे जा सकते हैं। परन्तु जो लोग वेदों को केवल पुस्तक कहते हैं वह इस सूक्ष्मता को नहीं समझ सकेंगे। केवल आध्यात्मिकता प्रेमी ही अपने अन्तर श्रुति का श्रवण करते हुये उनकी वास्तविकता और समझ का अनुमान कर सकते हैं।

तीसरा खण्ड

"श्रुति" शब्द का वास्तविक अर्थ

वेद "श्रुति" कहलाते हैं। "श्रुति" के अर्थ संस्कृत कोष में निम्न प्रकार दिये गये हैं:—'वेद', 'पवित्र लेख' 'कान'

'सुनना' 'विवेक' 'समाचार' 'घटना और इसकी धातु 'श्रव' अर्थ कान है। इससे स्पष्ट तथा प्रकट है कि जो बात सुनी गई वह 'श्रुति' है। जो सुनी नहीं गई वह 'श्रुति' नहीं है और न हो सकती है।

यह एक शब्द 'श्रुति' वेदों की वास्तविक स्थिति स्थापन करने में सबसे अधिक सहायक होता है और यदि कोई मनुष्य भली प्रकार इस पर विचार करे तो फिर सम्भव नहीं है कि वह भूलकर भी वेदों के सम्बन्ध में अपने मन में भ्रमात्मक और संशयात्मक विचार रख सकें। बस इसी एक शब्द से पता लग जाता है कि वेद क्या हैं।

शब्दों ही के सुनने से संशय उत्पन्न होते हैं और शब्दों ही के सुनने से संशय दूर होते हैं। इस बात की खबर सब किसी को है। "श्रुति" शब्द ने न केवल हिन्दुओं के वरन अहिन्दुओं के बीच भी भ्रम फैलाया और यही शब्द है जो अब इस काल में हमारी जिभ्या से सुन लेने और सोचने-विचारने पर सारे संशय और भ्रम को मिटायेगा।

मनुष्यों का विचार है कि चूँकि कण्ठाग्र रीति से वेदों के पठन-पाठन का क्रम एक के दूसरे से सुन लेने पर चला है इसी कारण से उनका नाम श्रुति पड़ा है। पश्चिमी विद्वान खोजी कहते हैं कि वेदों के मंत्र वास्तव में भजन और नाना देवताओं की स्तुतियाँ हैं जो ऋषि समय-समय पर गाया करते थे। इनको उनके शिष्यों ने उनसे सुना। जिह्वाग्र और कण्ठस्थ याद कर लिया। इस प्रकार बहुत दिनों तक यह नियम चलता रहा; परन्तु धीरे-धीरे जब इनकी संख्या बहुत बढ़ गई और मौखिक रीति से उनका याद करना कठिन हो गया, विवश उनको पुस्तकाकार रूप में परिणित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई और वह लेख के शब्द, पंक्ति और

भाषा में परिणित कर दिये गये और उनकी चार पोथियां हो गईं जिनको इस समय ऋक, यजुः, साम और अथर्व कहा जाता है।

यह विचार सत्य भी है और असत्य भी है। सत्य इस कारण से है कि मंत्रों की अधिकता के कारण से वास्तव में उनके लेख बद्ध करने की आवश्यकता प्रतीत हुई और असत्य इस कारण से हैं कि वेदों को केवल एक की जिभ्या से दूसरों के सुन लेने और कण्ठाग्र कर लेने के कारण से 'श्रुति' कहना अनसमझी और मूर्खता का प्रमाण है। हम इससे नाहीं नहीं करते कि मंत्र भाग को लोग प्राचीन काल से कण्ठाग्र करते आये हैं परन्तु यह व्याख्या पूर्ण नहीं है। मौखिक रीति से तो स्मृति, इतिहास, व्याकरण, सूत्र आदि भी याद किये जाते हैं और अब भी उनके कण्ठाग्र करने कराने का प्रबन्ध दिखाई देता है; परन्तु क्या उनको सुनकर याद कर लेने से वह श्रुति कहे जाते हैं? कभी नहीं। सुनकर याद करने की पुस्तकें तो वास्तव में 'स्मृति' हैं। स्मृति संस्कृत धातु 'स्मृ' याद करने से निकला है और इनका तात्पर्य धर्म-शास्त्रों से हैं जिनके प्रमाण मौखिक रीति से सदैव दिये जा सकते हैं। न्यायालय में वह वकील अधिकतर सिद्ध होता है जिसकी स्मरण-शक्ति तीव्र हो जो समय-समय पर प्रमाणों, दृष्टान्तों से काम लिया करता है।

'श्रुति' का अर्थ कुछ और है। सुनने को तो सब प्रकार की बातें सुनते ही रहते हैं। हम सुनते हैं, तुम सुनते हो, वह सुनता है, वह सुनती है। यदि श्रुति का यही अर्थ है तब तो जो बातें सुनी जाती हैं और सुन कर याद कर ली जाती हैं सब ही 'श्रुति' कहलायेंगी परन्तु आज तक कोई मनुष्य ऐसा नहीं कहता और न इस दृष्टि से वेदों को 'श्रुति' कहा जाता है।

फिर यह 'श्रुति' क्या है ? आओ ! हम से तुम इस यु
प्रथम बार सुनो। कहने वाले तो संकेत में पहले से भी कहत
चले आ रहे हैं परन्तु उनका कथन दबी वाणी और संदिग्ध
शब्दों में था। हम प्रत्येक बात को खोल २ कर कहने का यत्न
करते हैं। हम यह भी नहीं कहते कि कोई मनुष्य योंही हमारी
बात पर केवल विश्वास करके उसको सत्य समझ ले। हाँ ! यदि
किसी को इसमें तनिक भी सचाई प्रतीत हो तो वह स्वयं विचार
करके अपने लिये विशेष प्रकार का परिणाम निकाल ले।

सार बचन राधास्वामी नज्म में स्थान-स्थान पर इस श्रुति के सम्बन्ध में संकेत आये हैं और यह संकेत एक, दो नहीं प्रत्युत बेर-बेर आये हैं। इनसे प्रतीत होता है कि वेद मूल कलाम हैं जिनकी ध्वनि त्रिकुटी अर्थात् ओंकार के स्थान पर सुनी जाती है और क्योंकि उस स्थान पर अपने कान से सुने बिना उसका ज्ञान, उसका विश्वास नहीं होता, इसलिये इस दृष्टि से उसको श्रुति कहा गया है। जिस प्रकार बहिर्मुखी सूफी लोग अन्तरीय राग को बाह्य श्रुति के रूप में स्थापित करके कव्वाली के राग आदि सुना करते हैं उसी प्रकार हिन्दू समय के हेर फेर के कारण श्रुति के उस स्थान पर सुनने के भेद को भूल गये और उनका अभ्यास नितान्त बहिर्मुखी होने लगा। सार बचन राधास्वामी के पृष्ठ ५२६, ५२७ और ५२८ में दूसरे अध्यात्मिक स्थान की व्याख्या में एक वाणी आती है जिसको हम यहाँ ज्यों का त्यों उद्धृत किये देते हैं। उसमें ओंकार पद की अन्तरीय चढ़ाई का वर्णन है। इसका समझना तो केवल अभ्यासियों ही का काम है परन्तु इसके साधारण अध्यन से कम से कम इतना तो पता लग जायगा कि श्रुति शब्द का अर्थ क्या है। वह वाणी यह है:—

शब्द स्थान दूसरा

अब चलो सजनी दूसर धाम। निरखो त्रिकुटी गुरु का ठाम॥
ओंकार धुन जहाँ विश्राम। गरजे बादल और घनश्याम॥
सूरज मंडल लाल मुकाम। गुरू ने बताया गुरु का नाम॥
पंचम वेद नाद यहीं गाया। चहुँदल कँवल सन्त बतलाया॥
घंटा शंख सुनी धुनसोई। गरज मिरदंग सुनाई सोई॥
सुरत चली और खोला द्वार। बंकनाल धँस हो गई पार॥
ऊँची नीची घाटी उतरी। तिल की उल्टी फेरी पुतरी॥
गढ़ भीतर जाय कीन्हा राज। भक्ति भाव का पाया साज॥
कर्म बीज अब दिया जलाई। आगे को फिर सुरत बढ़ाई॥
नौबत झड़ती आठों जाम। सूरत पाया मूल कलाम॥
महा काल और कर्म बखाना। उत्पति बीजा यहाँ से जाना॥
सूरज चाँद अनेकन देखे। तारा मंडल बहु बिधि पेखे॥
पिंड अन्ड से न्यारी खेली। ब्रह्मांड पार गई अलबेली॥
बन और परवत बाग दिखाई। चमन २ फुलवारी छाई॥
नहरें नदियाँ निर्मल धारा। समुँदर पुल चढ़ होगई पारा॥
मेरु सुमेरु देख कैलासा। गई सुरत जहाँ बिमल बिलासा॥
राधास्वामी कहत पुकारी। दूसर मंज़िल करली पारी॥

इसी एक शब्द में बहुत से वैदिक रहस्य मिलेंगे जिनकी व्याख्या में पंडित लोग लज्जित हैं। यहाँ ही प्रातः काल के सूर्य्य की ऊषा दृष्टि में आती है जिसके पीछे तेजोमय तीव्र किरण ब्रह्म के रूप में दौड़ती है। यहाँ अभ्यासी की सुरत जब ब्रह्मरेन्द्र की चोटी पर चढ़ आती है तो उसको जो ध्वनि अन्तर में सुनने में आती है वही श्रुति कहलाती है। वह विशेष प्रकार से मस्ती देने वाली, आपे से बाहर करने वाली और नीच भावनाओं के स्थल से ऊँचे चढ़ाने वाली है। जब

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY PURNADAYAL

तक अन्तर में अभ्यास करने वाला यहाँ नहीं आता तब असली श्रुति के सुनने का अवसर उसे नहीं मिलता।

यह श्रुति है और वेद ऐसे ही श्रुति हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या वेदों में जो मंत्र हैं अक्षरशः वही श्रुति हैं जिनको पुस्तकों में सुरक्षित किया गया है अथवा यह उनसे भिन्न हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि श्रुति जो अन्तर में सुनी गई वह धुनात्मक थी। ऋषियों ने उसी को अपनी भाषा में वर्णन कर वैदिक मंत्रों के रूप में उसकी मूर्त्ति स्थापित कर दी और वही मूर्त्ति प्राचीन काल से लेकर अब तक वैसी ही चली आती है उसमें फेर फार नहीं किया गया। इसलिये यह मंत्र श्रुति ही हैं। यह उनका पद है। जिस ऋषि ने श्रुति को जिस २ रूप में सुना उसने उसकी वैसी ही मूर्ति स्थापित कर दी और जिस विशेष विषय से उसके मंत्र को सम्बन्धित कर दिया वह उसी विशेष विषय से सम्बन्धित अब तक भी बराबर समझा हुआ चला आरहा है। यही कारण है कि श्रुति के प्रत्येक मंत्र के छन्द, देवता, ऋषि इत्यादि अलग २ हैं।

हमसे जहाँ तक हो सका श्रुति की वास्तविकता दिखाने का प्रयत्न किया है। इस विषय को बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया जा सकता है, परन्तु चूँकि इसके भीतर बहुत सी ऐसी बातें वर्तमान हैं जो केवल रहस्य विद्या की स्थिति में अब तक चली आरही हैं, अधिक प्रकाश डालने की आज्ञा नहीं है। रहस्य विद्या किसी अवस्था में साधारणतया प्रचार किये जाने की वस्तु नहीं है। यदि उसका प्रचार साधारण रीति पर किया जायगा तो फिर अनाधिकारियों के बीच वह इस प्रकार की भ्रम पूर्ण भावनायें फैलाने का कारण बन जायगा कि फिर किसी प्रकार उनका प्रतिकार न हो

सकेगा। और जो अधिकारी कि सत पथ पर चलते हैं और रहस्य विद्या से लाभ उठा रहे हैं वह अकारण ही कष्ट और दुविधा में पड़ेंगे। लाभ तो एक को भी न होगा, हानि की निस्सन्देह आशंका है। इस कारण ऋषियों ने वेदों के संहिता भाग के मंत्रों को जो असली श्रुति हैं बहुत ही सावधानी के साथ सुरक्षित रक्खा और जो मनुष्य तनिक भी अन्तरी अभ्यास करता है वह सुगमता से समझ सकता है कि धुनात्मक विषय का प्रचार कोई कैसे कर सकेगा। वह तो जब दिया जायगा केवल पुत्र अथवा शिष्य ही को प्रदान किया जायगा और उसके अधिकारी भी अति ही न्यून होंगे। यह श्रुति के जन-साधारण की सम्पत्ति न बनाने का रहस्य है। इससे अधिक हम इस अवसर पर नहीं कह सकते।

चौथा खण्ड

तीन वेद

वेद तीन हैं। एक तो मंत्र भाग जिसको संहिता कहते हैं। दूसरा ब्राह्मण भाग। तीसरा उपनिषद भाग। यही तीन वेद हैं। जो लोग चार वेद मानते हैं अथवा ऋक् यजुः और साम को विशेष वेद मान कर अथर्व को इस सूची से निकाल देते हैं वह भूल पर हैं। यदि उनकी समझ में तीन वेद मुख्य हैं और अथर्व की वेद में गणना नहीं है तो हम उनके साथ विवाद करने को उद्यत नहीं हैं। हम जो समझ रहे हैं वह बता रहे हैं। हमने यही समझा है कि वेद के तीन भागों में से प्रथम भाग तो मंत्र भाग अथवा संहिता भाग है जो सम्मिलित रूप से संहिता और विभाजित रूप में ऋक, युजः साम और अथर्व कहलाता है। प्रत्युत किसी-किसी ने तो इस

संहिता भाग के पाँच भाग तक किये हैं। वह यह हैं—ऋ अथर्व, साम, तैत्रेय और बाजसनेही। यही अन्तिम यजुर्वेद के भाग हैं जो मुख्य छन्द हैं। दूसरा ब्राह्मण भाग है जो गद्य में है और जिसमें यज्ञ, हवन इत्यादि कर्मों का वर्णन आता है। तीसरा उपनिषद भाग है जो पद्य और गद्य दोनों में है और उसका सम्बन्ध ज्ञान से है।

मुख्य वस्तु तो मंत्र ही हैं जो वास्तविक श्रुति हैं और उन की इस वास्तविकता पर किसी प्रकार का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता और वह अन्तरी धुनात्मक वाणी है जिनको समाहित चित्त की अवस्था में सुना गया था और ऋषियों ने भाषा और शब्द के बन्धन में खेंच कर उनके साथ दो प्रकार का व्यवहार किया। प्रथम तो उन्हें (मंत्रों को) कर्म के सिद्ध करने का साधन बनाया, दूसरे उन्हीं को ज्ञान का हेतु माना और दोनों बातों को वेद के आधीन रक्खा।

यह कर्म काँड और ज्ञान काँड का आरम्भ है। कर्म हो अथवा ज्ञान दोनों ही का सम्बन्ध मनुष्य के अपने मन से है। मन की वृत्ति ही से मनुष्य की भावना कर्म अथवा ज्ञान की ओर होती है। आरम्भ में जिस समय ऋषियों ने श्रुति को सुना था वह ईश्वर कोटि में थे। ईश्वर कोटि में जो प्राणी रहते हैं वह दुख-सुख, पाप-पुन्य, कर्म-ज्ञान और सब प्रकार की द्वन्द की बातों से ऊँचे रहते हैं क्योंकि यह सब सम्बन्धित बातें हैं। श्रुति के सुनने से दोनों ही का ध्यान दूर हो जाता है। अब भी जो लोग अनहद वाणी का साधन करते हैं वह सुगमता से इसे हृदयाङ्गम कर सकते हैं। जब तक ऋषियों को श्रुति के साथ अन्तरी सम्बन्ध था उनकी स्वयं ऐसी ही दशा थी। फिर विचार आरम्भ हुआ और विचारने से यह उनके मन में आया कि इसी श्रुति से, चूँकि रचना की सम्भावना है,

हमारे अभीष्ट की सिद्धि में सहायता प्राप्त होगी। यह विच अक्षरशः सत्य था। प्रथम तो श्रुति का सुनना ए प्रकार का प्राकृतिक अभ्यास था जिसका प्रयत्न नहीं करना पड़ता था परन्तु दूसरे के समझाने और दूसरों को उसके सुनने के योग्य बनाने के हेतु प्रयास करना पड़ा और इसी प्रयास के कारण श्रुति की वर्त्तमान शाब्दिक मूर्तियाँ स्थापित करनीं पड़ीं जिससे जैसा ऋषि अपने अन्तर सुनते थे वैसे ही और लोग भी सुनें अथवा बाह्य जगत में उसका अनुमान कर सकें और उससे कर्म और ज्ञान के साधन में सहायता लें। कर्म हो अथवा ज्ञान दोनों ही के क्रम में मन को एक विशेष ढंग पर स्थापित करना होता है। यदि मन को ऐसी विशेष स्थिति न प्राप्त हो तो कभी अपने अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। लौकिक, पारलौकिक और समस्त व्यवहारिक कार्य्यों में यह बात देखी जाती है। इसी प्रकार बोलने, सुनने और काम करने में भी उसे ऐसा ही समझना चाहिये। मन के विशेष ढंग पर स्थिति हो जाने से बात के सुनने और बोलने का प्रभाव अपने और दूसरों के ऊपर विशेष प्रकार का होता है। इसी विचार से ऋषियों ने श्रुति को छन्द बद्ध कर दिया और विशेष प्रकार का जामा पहना दिया और ताल स्वर का बन्धन लगाया जिस में श्रुति के विशेष प्रकार से बोलने. गाने और सुनने पर मन एक विशेष अवस्था पर स्थित हो कर कर्म अथवा ज्ञान के तात्पर्य को प्राप्त कर सके। श्रुति को हम आरम्भ से धुनात्मक कहते चले आरहे हैं। धुनात्मक वह है जिसकी केवल ध्वनि सुनने में आवे और वह शब्दों और ताल स्वर के बन्धन से मुक्त हो। परन्तु चूँकि मनुष्य बन्धन के जीवन का अभ्यासी हो चुका है वह ध्वनि की सूक्ष्म आवाज़ को अपने स्थूल ताल स्वर के बन्धन में लाने का उपाय

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

सोच लेता है और श्रुति के साथ ऋषियों का यही व्यवहार हुआ

श्रुति का तात्पर्य एक है, परन्तु नाना ऋषियों ने नाना प्रकार से सुनने के कारण से उनके विभिन्न रूप स्थापन कर दिये, जैसे सितार के तारों से शब्द तो एक ही प्रकार का निकलेगा, परन्तु बजाने वाला का जैसा मन होगा वह वैसा बजायेगा और उसको बन्धन में लाकर अपने ढंग पर प्रकट करेगा। सितार बजाने वाले गुरुओं में बहुतों की बन्दिशें (ढंग) भिन्न हैं परन्तु तात्पर्य सब का एक है। इसी प्रकार एक-एक भाँति के मंत्रों के एक-एक देवताओं और उनके छन्दों के सम्बन्ध में समझना चाहिये।

कर्म आधीनता है और कर्म काँड आधीनता के दूर करने का उपाय है जिनमें मन के साथ और सारी इन्द्रियाँ सम्मिलित होकर उसकी प्राप्ति में सहायक होती हैं। मनुष्य इस आधीनता के हाथ से ही क्षणिक मुक्ति पाकर सुख और शान्ति का अधिकारी होता है परन्तु सदैव के लिये यह अवस्था उसे प्राप्त नहीं होती क्योंकि आँशिक कर्म का फल सदैव आँशिक होगा और जो वस्तु कि कर्म करने से प्राप्त होती है वह सदैव के लिये स्थायी नहीं होती। जो मिला है वह बिछुड़ जायगा, जो हाथ में है वह हाथ से जायगा। कर्म करने से दुखों से केवल क्षणिक मुक्ति प्राप्त होती है और जो मनुष्य इस प्रकार की दृष्टि रखते हैं कि संसार के सुख, भोग, राज्य, सम्मान ही सब कुछ हैं वह कर्म-काँड किया करें और उसी में लगे रहें परन्तु सृष्टि में ऐसे मनुष्य भी हैं जो इस सांसारिक क्षणिक अवस्था को अतीव अवहेलना की दृष्टि से देखने के अभ्यासी हैं। इनके लिये ज्ञान का अधिकार है। इनको प्राप्त कुछ नहीं करना है। केवल मन के आवरणों कोषों को उघेड़ कर फेंक देना है। जहाँ यह आवरण हट गये, वस्तु प्राप्त की प्राप्त

उपस्थित है और वह प्रत्येक प्राणी का अपना आत्मा है जो खो नहीं गया है केवल भ्रम के कारण उसकी समझ नहीं रही है.

यह कर्म और ज्ञान में भेद है। कर्म अन्धकार है, अज्ञान है और आत्मा को पृथक दिखाने वाला है। ज्ञान प्रकाश है, चैतन्यता है और आत्मा को अपना निज रूप दिखाने वाला है।

इन बातों के कारण वेद के तीन रूप पिछले समय के ऋषियों ने स्थापित किये। प्रथम तो शुद्ध श्रुति, दूसरे ब्राह्मण और तीसरे उपनिषद। यही तीन वेद हैं।

संहिता भाग की वास्तविक स्थिति तो यह है कि उसका सुनने वाला द्वन्द के स्थल से ऊँचा है। ब्राह्मण भाग की यह स्थिति है कि उसके कर्त्तव्य का जो पालन करने वाला है। किसी न किसी प्रकार के द्वन्द की रचना के स्थल में फँसा-फँसाया पड़ा रहे और उसी के दुख-सुख की चिन्ता में उलझा रहे। और उपनिषद भाग की स्थिति यह है कि मनुष्य विचारवान होकर इस क्षणिक और अस्थिर अवस्था से बचकर उस अवस्था के प्राप्त करने के विचार में लगे जो द्वन्द अवस्था को सदैव के लिये नाश कर देने वाली है। यह उनकी क्रमानुसार स्थितियाँ हैं।

ब्राह्मण व्यवहारिक हैं। इनके दो भाग हैं। (१) विधि और (२) अर्थवाद। विधि तो विहित कर्म को कहते हैं और अर्थवाद उनकी व्याख्या है। इनमें कथा, कहानी इत्यादि सब ही कुछ हैं और पिछले समय के पुराणों की कथाओं की जड़ भी इनही को समझना चाहिये। पुराणों के बन जाने पर कथा इत्यादि के प्रबन्ध का सम्बन्ध पुराणों ही से रह गया और ब्राह्मण ग्रन्थों को लोग भूल गये। वर्ण विवेक, जात-पाँत, कर्म-धर्म सबकी व्याख्या ब्राह्मणों ही में आती है।

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

प्रत्येक संहिता के ब्राह्मण पृथक-पृथक हैं। ऋग्वेद के ब्राह्मण ऐत्रेय और कौशितकी हैं। यजुर्वेद के दो ब्राह्म तैत्रेय और शतपथ कहलाते हैं और शतपथ ब्राह्मण मुख्य तथा अधिक रोचक और कई दृष्टि से अध्ययन योग्य पुस्तक है। साम वेद के ८ ब्राह्मण हैं जिनमें प्रौढ़, निंद्या और शदविंश मुख्य समझे जाते हैं। अथर्व वेद का भी एक ब्राह्मण है जो गोपथ कहलाता है।

इन ब्राह्मणों में विचित्र कथायें भी आई हैं। यहां तक कि ऋग्वेद के ऐत्रेय ब्राह्मण में सुन्हलेप की मानुषी बलि कराने तक का वर्णन आता है और आश्चर्य का विषय बन जाता है और चूँकि उसमें हरिश्चन्द्र इत्यादि राजाओं का वर्णन आता है, सम्भव है कि उस ब्राह्मण का कोई भाग बहुत पुराना न हो हो। ऐसी गाथाओं के सम्बन्ध में हम निश्चित रूपेण कुछ नहीं कह सकते।

इसी यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मणों में मनु का नाम, विष्णु के मछली के रूप में अवतार धारण करने, जल विप्लव के आने, सृष्टि के जल मग्न हो जाने, मनु के नौका बनाने, सप्त ऋषियों के बच जाने और फिर मनु से मानुषी सन्तति बढ़ने की मनोरंजक गाथा आई है जो वास्तव में पौराणिक है और ईसाई, मुसलमानों के तूफान नूह से अधिक समानता रखती है। यह गाथा नई नहीं हैं पुरानी है और इससे प्रकट होता है कि सारे मतों के चलाने वालों ने बहुत कुछ अपने विश्वास इनहीं से प्राप्त किये हैं।

उपनिषद तीसरे वेद हैं। इनको किसी-किसी ने वेदशिर अर्थात वेदों की चोटी की पदवी दी है। यह पदवी अनुचित है क्योंकि वेदशिर यदि किसी को कहा जाता है तो वह केवल

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY PURNADAYAL

संहिता भाग ही है। यह हम मानते हैं कि संहिता भाग में मंत्रों से उपनिषदों के वर्णन ज्ञान के विषय में अधिक विस्तृत हैं परन्तु इससे क्या होता है। संहिता असली श्रुति है और शेष नकली श्रुति हैं। श्रुति न कर्म हैं न ज्ञान है। वास्तव में ऋषियों ने उन्हीं से ज्ञान और कर्म के अर्थ प्राप्त किये हैं।

कर्म तो साधारण नीचे स्थल के मनुष्यों का मार्ग है। ज्ञान ऊँचे स्थल वालों के लिये है और मूल श्रुति केवल उनके लिये है जो ऊँचे-नीचे स्थल से पार हो गये हैं और श्रुति को अपने अन्दर सुनते हुये इस प्रकार की अवस्था से सम्बन्ध रखते हैं जो जिह्वा और लेखनी से प्रकट नहीं किया जा सकता।

श्रुति वास्तव में रहस्य ज्ञान है और चूँकि उसी की नींव पर कर्म और ज्ञान का अवलम्बन है इसलिये आंशिक ज्ञान ऋषियों ने अपनी मानसिक शक्ति से प्राप्त किया परन्तु रहस्य ज्ञान को रहस्य का ज्ञान ही बनाये रक्खा और अब तक भी वह वैसा ही है। हाँ, उसे स्थूल रूप में सुरक्षित करने का साधन किया गया है। ब्राह्मण और उपनिषद ऊँचे नीचे स्थल वालों के लिये हैं और वह वाद-विवाद और पठन-पाठन में आते रहते हैं। इस में कोई संशय नहीं कि उपनिषदों में बहुधा आत्म ज्ञान के भेद की बातें बहुत हैं और ज्ञान काँड में उनसे अच्छी, प्रमाणिक और अधिक प्रकाश डालने वाली पुस्तकें कोई भी नहीं हैं परन्तु उनमें वास्तविक रहस्य ज्ञान का कहीं २ संकेत भी आता है। वह ज्ञान को समझा बुझा कर श्रुति अर्थात अन्तरीय अनाहत शब्द के साधन में लगा देते हैं और फिर हट जाते हैं। यह श्रुति कहने सुनने की वस्तु ही नहीं है और कहे भी तो कोई क्या कहे। वह जितना कहेगा अथवा मंत्र भाग की व्याख्या करेगा स्वयं भ्रम में पड़ेगा और दूसरों को

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

भ्रम में डालेगा और यही कारण है कि अब तक हिन्दुओं ने वेदों के संहिता भाग को सुरक्षित कर रक्खा है।

ब्राह्मण ग्रन्थ गृहस्थियों के पंथ के मार्ग-प्रदर्शक हैं। उपनिषद ग्रन्थ बन में जाकर सोचने समझने वालों के उपदेश की सामग्री हैं जिनका मान ऋषियों ने सितार की गतों की बन्दिश की भाँति अपने शब्दों में खेंच कर स्थापित किया है। यह बात भी कहने सुनने की नहीं थी परन्तु हम क्या करते। आवश्यकता हुई कि रहस्य ज्ञान को कम से कम इतना तो बता दिया जाय कि आध्यात्मिकता प्रेमी भ्रम में न पड़ने पावें। वह सोचें कि सन्त पंथ क्या शिक्षा देता है और क्या वह वास्तविकता पर प्रकाश डालता है अथवा किसी को भ्रम में फँसाता है। रहस्य ज्ञान तो अब भी छुपे का छुपा ही है। वह तो जब चलेगा शिष्य और गुरु की प्रणाली ही द्वारा चलेगा; परन्तु इन गाथाओं से समझ वालों को पता लग जायगा कि श्रुति क्या है और उनसे तात्पर्य क्या है।

उपनिषद संकेत करके हट जाते हैं यह हमने ऊपर कहा है और हम भूल पर नहीं हैं। किसी एक विषय को लेलो। उदाहरणार्थ देवयान पन्थ के मार्ग के पंच अग्नि देवता, उद्गीथ का साधन इत्यादि इत्यादि विषयों को ध्यान से पढ़ो और देखो तुम कहाँ तक इनके संकेतों को समझ सकते हो। इनके समझाने का कहीं भी अच्छा प्रबन्ध नहीं है और जब तक तुम रहस्य ज्ञान वालों की संगत में सम्मिलित होकर उन से अभ्यास की युक्ति न सीखोगे और अन्तर में श्रुति के सुनने का साधन न करोगे इन रहस्यों की गुत्थी का सुलझना असम्भव है। जी में आवे कर देखो, अनुभव कर देखो, किसी पंडित से पूछ देखो, स्वयं पता लग जायगा।

यह तीन वेद हैं। संहिता के भाग बता दिये गये। कई ब्राह्मण ग्रन्थों के भी नाम आ गये। मुख्य उपनिषदों की सूची यह है:—ऋग्वेदी (१) ऐत्रेय उपनिषद (२) कौशितकी उपनिषद; यजुर्वेदी (१) वृहदारण्यक उपनिषद (२) तैत्रेय उपनिषद (३) ईश उपनिषद; साम वेदी (१) छान्दोग्य उपनिषद; अथर्व वेदी (१) प्रश्न उपनिषद (२) मुन्डक उपनिषद (३) माँडूक्य उपनिषद (४) कठ उपनिषद।

उपनिषद में यही मुख्य ग्रन्थ हैं। शेष पिछले काल की रचनायें हैं।

पाचवाँ खंड

वैदिक देवता

अन्य धर्मावलम्बियों का साधारणतया विचार है कि वैदिक ऋषि तत्वों को देवता समझ कर पूजते थे और उनके अतिरिक्त उनका उपास्य देव अन्य कोई नहीं था। केवल किसी-किसी न्यायप्रिय अन्वेषक ने यह पता लगाया है कि वह एक स्वयंभू उपास्य देव के मानने वाले थे परन्तु यह निर्णय भी अति निर्बल शब्दों में दिया जाता है। इससे अधिक मिथ्या और क्या बात हो सकती है। वेद संसार में सब से अधिक प्राचीन पुस्तक माने जाते हैं और वेदों का अस्तित्व क्या इस बात का प्रमाण नहीं है कि वैदिक ऋषि प्रथम मनुष्य थे जिन्हों-ने एक ब्रह्म के इष्ट पर विचार किया होगा। अतः ऐसी अवस्था में यह कहना कि वेद भिन्न-भिन्न और बहुत से देवताओं के विश्वास के पोषक हैं कैसा अन्याय होगा। हिन्दुओं से अधिक संसार का कोई धर्म एकत्ववादी नहीं है। यहाँ तो लोग

देख रहे हैं कि वह एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी दूसरी वस्तु के मानने वाले नहीं हैं। प्रकृति तक को वह काल्पनिक भ्रमात्मक और मिथ्या बताते हैं फिर कैसे सम्भव है कि अगणित अथवा बहुत से देवताओं के विश्वासी रहे होंगे व केवल तत्व पूजा ही तक उनके विश्वास की सीमा रही होगी।

यह दोनों विचार उन लोगों के हैं जिनको हिन्दुओं के धर्म से सच्ची जानकारी नहीं है।

फिर क्या यह जो भिन्न-भिन्न देवताओं की स्तुतियाँ वेदों में आई हैं मिथ्या हैं? नहीं। हिन्दू मस्तिष्क सदैव से कवि का मस्तिष्क रहा है। यहाँ तक कि यदि कोई मनुष्य संस्कृत भाषा की अक्षर शैली और बनावट पर ध्यान दे तो उसे उसमें भी छन्द प्रबंध का पता मिलेगा। उदाहरणार्थ प्रथम शब्द जो बच्चे के मुँह से निकलता है वह 'अ' है। उसके हिन्दी भाषा में तीन रूप हैं अ-अ-आ। किसी बच्चे को यदि रोते हुये सुनोगे तो वह भी क्रमशः तीन ही बेर 'अ-अ-आ' करता हुआ प्रतीत होगा। गाने के अलाप में भी यही रूप है। न रोता हुआ बच्चा एक वा दो बेर इस शब्द को निकालेगा, न गाने वाला ही एक वा दो बेर इसको प्रकट करेगा, प्रत्युत दोनों ही तीन बेर अ-अ-आ करेंगे। यही रूप संस्कृत में सारे स्वरों और व्यञ्जनों के हैं। प्रकृति में भी क्रमानुसार शब्द की तीन ही थर-थराने वाली शक्लें हैं और बहुधा इन्हीं तीन के अन्तर सबका प्रबन्ध है। नितान्त इसी कविता के ढंग के अनुसार हिन्दुओं ने स्वयंभू के अस्तित्व का ध्यान जमा कर अलंकारिक रूप में उसकी उपासना की। उपास्य का कोई रंग-रूप नहीं है परन्तु उसकी स्तुति के लिये आवश्यक है कि कोई न कोई रूप, चाहे वह मानसिक हो अथवा काल्पनिक, स्थापित कर लिया जाय। इस के बिना काम नहीं चलता, नहीं तो उसकी स्तुति बन्दना कैसे हो सकेगी। ऋषियों

ने सबसे प्रथम उपास्य देव को तेजोमय रूप दिया और कि ने विचारों के अनुसार उसके तीन रूप स्थापित किये–अग्नि इन्द्र और सूर्य्य। यह तीनों एक ही हैं परन्तु तीन रूप में अपने को प्रकट करते हैं। अग्नि सर्व व्यापक है जिसमें प्रगति का अनुमान होता है जैसे लकड़ी, पत्थर, पानी सब ही के भीतर यह तत्व छिपा हुआ रहता है। तेज का एक रूप यह है जिसके अस्तित्व से इन्कार तो नहीं है परन्तु वह दिखाई नहीं देता। पत्थर अथवा लकड़ी के परमाणुओं के भीतर अग्नि का दृश्य कौन देखता है। मथने अथवा रगड़ने में भी जो दशा उत्पन्न होती है वह विद्युत की है। इसी विद्युत का नाम इन्द्र है जो भीतर ही भीतर गतिवान होकर गर्मी और वेग की शक्ति की भाँति काम करता है परन्तु फिर भी आँखों से छिपा ही रहता है। परन्तु जिस समय रगड़ खाकर अथवा मथ कर अग्नि प्रज्वलित हो जाती है तब वह दृष्टि-गोचर होने लगती है। यह तीसरा रूप है। इसी का नाम सूर्य्य है। अब सोचो इसमें तत्त्वोपासना है वा वास्तविकता की उपासना है? हम नहीं जानते संसार के किसी धार्मिक पंथ ने अब तक अद्वैत के दिखलाने का ऐसा प्रबन्ध किया होगा। कभी ऋषियों ने उसकी किसी छवि को सम्बोधित किया, कभी किसी को। इसमें भिन्न भिन्न तथा बहुत से उपास्य देव कहाँ हैं?

नितान्त इसी प्रकार और देवताओं के विषय में भी समझना चाहिये। देवता नाम है तेजोमय व्यक्तित्व का। जिसमें तेज व प्रकाश हो वह देवता है। वास्तविकता की दृष्टि से वह एक और गुणों की दृष्टि से वह अनेक हो सकता है। उदाहरणार्थ कोई मनुष्य वास्तविकता और सार की दृष्टि से तो सदैव एक ही है परन्तु सम्बन्ध और नाते की दृष्टि से वह भाई, बेटा बाप, साला, बहनोई, ससुर, मित्र, सेवक, स्वामी, राजा, प्रजा

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

बना हुआ कई रूपों में काम करता हुआ दृष्टि-गोचर होता। इसी प्रकार ऋषियों ने अनेकता, और एकता से काम लेकर जब सत्ता के जिस गुण को ध्यान दिया तब-तब ही उसकी स्तुति गाई। हम सारे वैदिक देवताओं की व्याख्या इसी प्रकार से कर सकते हैं परन्तु विस्तार हो जायगा और लेख योंही लम्बा बन जायगा। इस हेतु केवल यही एक उदाहरण पर्याप्त है।

ऋग्वेद में जिस प्रकार अग्नि की स्तुति की गई है उसका अनुवाद यहाँ दृष्टान्त के ढंग पर देकर हम इस प्रकरण को समाप्त कर देंगे। मंत्र, "अग्नि तू ऋषि है, पुरोहित है, राजा है, यज्ञ का रक्षक है। हम मनुष्यों की स्तुति को सुनकर तू उतर आता है और हमारी भेंट और प्रार्थना को ऊपर पहुँचाता है। यद्यपि तेरी सत्ता तीन प्रकार की है। तू कभी अग्नि, कभी वायु और कभी अरणी (आग मथने वाली लकड़ी) में रहता है परन्तु तू स्वयं शक्तिवान देवता है, स्वामी है, अमर जीवन का देने वाला, वास्तव में एक परन्तु मनुष्य की दृष्टि में तीन है और तीन रूपों में अपना प्रकाश दिखाता है। पृथ्वी पर अग्नि, वायु में विद्युत और आकाश में सूर्य्य।

तू प्रत्येक स्थान का सुखदाई अतिथि है। बाप, भाई, बेटा, मित्र, उपकारी, रक्षक तू सब कुछ एक ही रूप में है। प्रकाशवान सप्त किरणों वाले देवता! कभी हम तेरे स्वर्णरूपेण शरीर और तेजोमय लटों को तीन भयानक सिर और मुख से प्रज्वलित होते हुये देखते हैं। और तू अपने जलते हुये जबड़ों और दाँतों से सबको खा जाता है। कभी सहस्रों लटकते हुये सींग वाला है कभी सहस्रों तेजवान आँखों वाला है। तू सुनहले रथ में हवा की तीव्रता में चंचल घोड़ों से खिंचा हुआ हमारी ओर आता है और तेरा रथ नाश के मार्ग में चलता हुआ सबको काला कर देता है।

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY PURNADAYAL

हे शक्तिवान स्वामी ! हम जैसे अपने विश्वासियों को प
के धब्बों से पवित्र कर दे और जब हम मर जाँय चिता प
हमारे साथ दया का व्यवहार कर। हमारे शरीर को उन के पापों के बोझ सहित जला दे और हमको द्युलोक के अविनाशी स्थल पर पहुँचा दे, जिसमें हम प्रकाशवान स्थान और विश्राम के स्थल पर पहुँच कर सदैव सत्त-पुरुषों के साथ बास करें।"

यह अग्नि की स्तुति है। ध्यान दो। इससे क्या सिद्ध होता है ? एक स्वयंभू उपास्य देव की सत्ता अथवा कई देवताओं का विश्वास !

इसी प्रकार किसी-किसी स्थान पर सूर्य्य की स्तुति आई है। वहाँ भी इसी प्रकार का मानसिक तीन प्रकार का दृष्य आँखों को दिखाया गया है। यही दशा गायत्री की भी है। ऐसा ही प्रातःकाल की रक्त चमकती हुई रश्मियों को सम्बोधन किया गया है। यम और पित्री आदि का जहाँ ऋग्वेद के अन्तिम मंडल में वर्णन आया है वहां भी यही भाव उपस्थित है। काल के साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया गया है। वरुण, मित्र, वायु, पोषण, रात्रि, अर्य्यमा, सावित्री आदि जैसे देवता वेदों में आये हैं। वह वास्तव में एक ही शुद्ध सत्ता के गुणों की ओर संकेत की उँगली उठाते हैं। न ऋषि पहिले कभी तत्व पृजक अथवा अधिक देवताओं के मानने वाले थे और न अनेक पूजा हिन्दुओं का आदर्श थी। जिसका जी चाहे गहन दृष्टि से अध्ययन करके अपना जी भर ले।

छटा खंड

उपनिषदों का ध्यान

जिन मनुष्यों का यह बिश्वास है कि एक ही प्रकार का

धार्मिक विचार सबके संतोष और तुष्टि का कारण होता है बड़ी भूल पर हैं। बच्चे का धर्म और है, युवा का और है बूढ़ों का और है। जब एक ही वस्त्र एक समय में सबके शरीर पर नहीं आ सकता तो फिर धर्म कैसे एक हो सकेगा। इस दृष्टि से हिन्दुओं में सनातन से दो मार्ग प्रचलित थे। एक कर्म काण्ड जो साधारण मनुष्यों का धर्म है, दूसरा ज्ञान काण्ड जो समझदार मनुष्य समुदाय का पंथ है। यह सत्य है कि ज्ञान मार्ग अत्यन्त सीधा-सादा रास्ता है और वह है भी ऐसा, परंतु जब तक कि मनुष्य के भीतर बुद्धि न हो उस ज्ञान का समझना न केवल कठिन प्रत्युत बहुधा असम्भव प्रतीत होता है।

ब्राह्मण ग्रन्थ कर्म-काण्ड से और उपनिषद ज्ञान काण्ड से सम्बन्ध रखते हैं। यह पहिले कह दिया गया है।

उपनिषदों की संख्या हिन्दुओं में बहुत है। यहां तक कि १५० के लगभग उनकी संख्या बताई जाती है परन्तु इनमें से १० अथवा ११ तो प्राचीन है शेष नवीन प्रतीत होती है। इन उपनिषदों में ज्ञान के सम्बन्ध में तो बड़ी व्याख्या के साथ शिक्षा दी गई है परन्तु जहाँ श्रुति की रहस्य-विद्या का सम्बन्ध है, वहाँ केवल संकेत ही संकेत विद्यमान है। यह भी हमने प्रथम बता दिया है।

ज्ञान की शिक्षा यह उपनिषदें जिस प्रकार देती हैं उसका आँशिक उदाहरण यहाँ उपस्थित किया जाता है। प्रथम हम वृहदारण्यक उपनिषद से कतिपय पंक्तियां उद्धृत करते हैं:—

(१) "आदि में कोई वस्तु जानने योग्य न थी, मृत्यु ने सब को घेर रखा था। इसी मृत्यु को सबके खा जाने की इच्छा है।" १—२—३

(२) "जिस प्रकार मकड़ी से तार और अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार एक आत्मा से सारे सांस लेने

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY PURNADAYAL

वाले जानदार, लोक, देवता और सारी सृष्टि निकली है।"४-४-१

(३) "इसी जगत में रहकर हम परमार्थ को जान सकते हैं यदि उसका ज्ञान हो जाय तो फिर पूरी मृत्यु आ जाती है। जो उसे जानते हैं वह अमर हो जाते हैं।" ४—४—१४

(४) "जब कोई मनुष्य अपने आत्मा को परमात्मा समझता है, जो था और जो होगा, तब वह आकर परमात्मा से छिपना नहीं चाहता।" ४-४-१५

(५)"उसी परमात्मा को देवता ज्योति की ज्योति की स्थिति से पूजा करते हैं और उसी को अविनाशी प्राण मानते हैं। ४-४-१६"

(६) "जो उसे प्राण का प्राण-आँख की आँख-कान का कान और मन का मन समझ लेते हैं वह अविनाशी और नित्य परमात्मा को समझ जाते हैं।" ४-४-१८

(७) "वह मन से देखा जाता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं है। जो उसमें परिवर्तन देखता है वह बराबर मरता खपता रहता है।" ४-४-१६

(८) "असीमित ढंग से पूर्ण है वह स्वयं पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण होता है, पूर्ण से पूर्ण को निकाल लो पूर्ण ही शेष रहेगा।" ५-१-१

(६)"मैं ब्रह्म हूँ। जो मनुष्य यह जानता है कि "मैं ब्रह्म हूँ" देवता भी उसे ब्रह्म होने से नहीं रोक सकते।" १-४-१०

(१०)"मनुष्य वास्तव में एक विशाल वृक्ष है। बन का राजा है। उसके बाल पत्तों जैसे हैं, त्वचा छिलके की नाईं है। इस के चमड़े से कटे हुये वृक्षों की छाल (के रस) की नाईं रुधिर बहता है। यदि वृक्ष काट दिया जाय तो उसकी जड़ से नवीन वृक्ष उगता है परन्तु जब नाशवान मनुष्य की जड़ मृत्यु काट

देती है तो उससे क्या उगता है ? उसकी जड़ ब्रह्म है जो
और आनन्द है। ३-६-८

छान्दोग्य उपनिषद से उद्धृत

(१) इन सब का ज्ञान नाम ही है। नाम से वाणी बड़ी है, वाणी से मन बड़ा है, मन से चित्त बड़ा है और चित्त से बुद्धि बड़ी है। मन, बुद्धि, चित्त से प्राण बड़ा है। जिस प्रकार रथ के अरे पहिये की नाभि से गुथे रहते हैं उसी प्रकार सारे प्राणी प्राण से गुथे हुये हैं।

(२) प्राण के पास विश्वास और आदर के साथ जाना चाहिये और उसको उसी विस्तार के साथ देखना चाहिये जिसमें वह रहता है। यह विस्तार आगे, पीछे, दक्षिण, उत्तर सब ओर से है। यह जगत का आत्मा है। यह स्वयं ईश्वर है। जो उसके एकत्व का ज्ञान रखता है उसे रोग, दुख दर्द और मृत्यु का दुख नहीं होता।

एक सर्व व्यापक अस्तित्व के सम्बन्ध में जो वेदान्त का मूल सिद्धान्त है छान्दोग्य उपनिषद में इस प्रकार से वर्णन आता है:—

"आरम्भ में सत्ता मात्र थी। एक दूसरे के बिना कतिपय मनुष्य कहते हैं कि आरम्भ में कुछ नहीं था। एक बिना दूसरे के। इससे तो यह सिद्ध होगा कि "नहीं" से सत्ता हुई है परन्तु यह सिद्ध नहीं होता है कि किस प्रकार हो सकती है। इसका कारण स्पष्ट है कि आरम्भ में सत्ता मात्र थी जिसका कोई साझी नहीं था। उसकी इच्छा हुई कि "मैं बहुत हो जाऊँ और पैदा होऊँ।" उसने अग्नि को उत्पन्न किया। अग्नि ने जल को उत्पन्न किया। जल ने भी बहुत होने और पैदा होने की

इच्छा की। उसने अन्न को पैदा किया। इस कारण जब अधिक जल पैदा होता है तब अन्न बहुत उत्पन्न होता है। उसने फिर इच्छा की "इन तीनों में प्रविष्ट होकर मैं नाम और रूप वाला बन जाऊँ" इत्यादि-इत्यादि।

जीवन और ईश्वर के विषय में मुण्डक उपनिषद (१-१।३) में एक उपमायुक्त वाक्य आता है जो वास्तव में ऋग्वेद के प्रथम मंडल के मंत्र से लिया गया है। वह यह है:—"जीवात्मा और परमात्मा मिले-जुले हुये उसी नाम से एक वृक्ष में रहते हैं। उन में से एक फल खाता है और दूसरा साक्षी की भांति केवल देखा करता है। उसी वृक्ष पर (परमात्मा के साथ रहता हुआ जीव) भ्रम में फँसा रहता है। निर्बलता से दुखी होता है; परन्तु जब वह परमात्मा और उसके तेज को देखता है तब उस का दुख मिट जाता है। जब देखने वाला सुनहले-पर-वाले सृष्टा परमात्मा ब्रह्मा की नींव को देख लेता है तब वह पाप-पुन्य के विचार को दूर फेंक कर ज्ञानी हो जाता है और सबसे ऊँची अवस्था को प्राप्त कर लेता है।"

ब्रह्म से इस जगत की उत्पत्ति के विषय में मुंडक उपनिषद इस प्रकार कहती है:—

(१) जिस प्रकार मकड़ी ताना-बाना तनती है, जिस प्रकार जीवित मनुष्य के शरीर से बाल और रोंगटे उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार यह जगत अमर परमात्मा से उत्पन्न होता है। १-१-७

(२) जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से सहस्रों प्रकार की चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही अमर परमात्मा से नाना भाँति के प्राणी उत्पन्न होते और उसी में लौट जाते हैं।२-१-१

(३) जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपने नाम और रूप से मुक्त होकर समुद्र में लौट जाती हैं उसी प्रकार ज्ञानी नाम

और रूप से मुक्त होकर परमात्मा में मिल रहता है जो सबसे बड़ा है। जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है ३-२-८,९

कठ उपनिषद् मृत्यु और जीवन के प्रश्न की गुत्थी को विचित्र ढंग पर सुलझाती है। उसका वर्णन गाथा के रूप में आता है। नचिकेता नाम का एक लड़का यम के यहां जाता है। यम उसको तीन वर देने का वचन देता है एक वर यह था कि उसका पिता उससे प्रसन्न हो जाय। दूसरा यह था कि जिस अग्नि से सूर्य्य की प्राप्ति होती है वह क्या है। तीसरा वर नचिकेता यों वर्णन करता है:—"कुछ लोगों का विश्वास है कि मरने के पश्चात् आत्मा रहता है कुछ कहते हैं कि नहीं रहता। तू मुझे यही तीसरा वर देदे कि मुझे इसी प्रश्न का सच्चा उत्तर मिल जाय।"

यम उसे समझाता है कि यह वर न माँगो, परन्तु नचिकेता नहीं मानता। अन्त में यम को दूसरे अध्याय में इस प्रकार उत्तर देने की विवशता होती है:—

"प्रेय और श्रेय मार्ग दो पंथ हैं। मनुष्य इन दोनों में से किसी एक के अनुगामी बनते हैं परन्तु जो श्रेय मार्ग को ग्रहण करते है वह अच्छे रहते हैं और जो प्रेय मार्ग पर चलते हैं वह ज्ञानी सत को सत मानते हैं-अज्ञानी ऐसा नहीं करते। तूने अपनी विवेक शक्ति से माया की नाश करने वाली प्रकृति को विषैली बतलाया है। इन दोनों पंथों के मार्ग और ठिकाने पृथक-पृथक हैं। एक का नाम ज्ञान है, दूसरे का अज्ञान है। हे नचिकेता! तूने अच्छा किया, ज्ञान का मार्ग ग्रहण किया। अज्ञानी अज्ञान को ग्रहण करके समझते हैं कि "हम ज्ञान-मार्ग पर हैं" परन्तु जिस प्रकार अन्धे-अन्धों को मार्ग प्रदर्शन करते हैं तो उनका पाँव लड़खड़ाता है और वह भ्रम के

चक्कर में पड़े रहते हैं। अचेत युवक संसार के लोभ में पड़ कर केवल इसी जगत और इसी जीवन को सब कुछ समझता है। आगामी जीवन उसके लिये स्वप्न मात्र है। ज्ञान का वास्तविक ध्येय आत्मा है.....यह आत्मा विचित्र है..... जो इस ज्ञान को पा लेता है उसके दुख-सुख सब लोप हो जाते हैं। उसका जीवन निर्द्वन्द हो जाता है... मारने वाला समझता है कि मैंने मार दिया। मारा हुआ समझता है कि मैं मर जाऊँगा। यह दोनों मूर्ख हैं। आत्मा सदैव विद्यमान रहता है। न वह मारता है न मरता है। वह बड़े से बड़ा है। सूक्ष्म से सूक्ष्म है। सबसे छोटा अपरिमित, चल पदार्थों के मध्य अचल और शरीरों के बीच अशरीरी है। मन उसको नहीं जान सकता। पापी को उसका ज्ञान नहीं होता। आत्मा को आत्मा ही जानता है दूसरे को आत्मा का ज्ञान नहीं होता।"

कठोपनिषद यद्यपि बड़ी पुस्तक नहीं है परन्तु आदि से लेकर अन्त तक सूचनाओं और लाभदायक पाठों से भरी हुई है और रथ आदि के उपनामों के क्रम में सत्यता का ज्ञान प्रदान करती है। दूसरे भाग की पांचवी बल्ली में वह कहती है:—

"यह सूर्य्य जगत की आँख है। उसको मनुष्य की आंख के दोष अथवा बाहरी पदार्थों से क्या दोष लगता है वा क्या हानि पहुँचती है। इसी प्रकार समस्त प्राणियों के अन्तरात्मा को जगत के दुख से क्या भय हो सकता है।"

कहां तक हम इन उपनिषदों की शिक्षा के उदाहरण उपस्थित करें। इस समय इतना ही पर्याप्त है।

———

तीसरा अध्याय

हिन्दू धर्म के तीन रूप

अन्वेषकों का विचार है कि हिन्दू शास्त्र वैदिक धर्म के विरुद्ध विद्रोह है। वेदों की शिक्षा में आत्मिक शाँति की सामग्री नहीं थी। मानुषी भावनायें फिर स्वयं शास्त्रों की ओर आकर्षित हुईं और कर्मकाण्ड के विरुद्ध विद्रोह का झंडा ऊंचा किया।

यह विचार केवल उन मनुष्यों का हो सकता है जो अहिन्दू हैं और जिनको हिन्दू धर्म से सम्बन्ध नहीं है। चारवाक इत्यादि के अतिरिक्त हिन्दुओं का कोई धार्मिक सिद्धान्त वेदों का विरोधी नहीं है। सब ही किसी न किसी रूप में वेदों का सम्मान करते हैं। संसार में कदाचित हिन्दू ही धर्म है जिसमें कर्मकाण्ड और ज्ञान काण्ड साथ साथ चलते हैं नहीं तो और जितने मत हैं सब ज्ञान काण्ड के नाम से घबराते हैं और मत (धर्म) को केवल श्रद्धा, और विश्वास ही की वस्तु समझते हैं। इससे किसी को इन्कार नहीं है कि श्रद्धा और विश्वास के बिना धार्मिक जीवन व्यर्थ होता है। श्रद्धा और विश्वास बड़े महत्त्व की वस्तु है परन्तु इसका यह तात्पर्य कभी नहीं है कि धर्म का अनुकरण अन्धों की भाँति किया जावे।

जो मनुष्य नितान्त बच्चों जैसा स्वभाव रखते हैं वह निस्संदेह प्रत्येक बात को श्रद्धा से सत्य मान लेंगे परन्तु सारे मनुष्य तो ऐसे नहीं हैं। कोई कोई प्रकृतियाँ स्वभावतः बाल की खाल निकालने वाली होती हैं। यदि इनको धर्म की समझ का यथेष्ट ज्ञान न दिया जाय तो वह कभी न उसे स्वीकार करेंगी और न उसकी आज्ञा पर चलेंगी। अतः इनके भी तो समझाने बुझाने का प्रबन्ध होना चाहिये, नहीं तो धर्म की महानता क्या

हुई ! प्राचीन ऋषि इस बात को जानते थे। इस कारण उनकी धार्मिक शिक्षा में तीन बातें सम्मिलित हैं—प्रथम नियमों का आचरण और आज्ञायें, दूसरे आचरण करने वालों के दृष्टान्त तीसरे आचरण करने की आवश्यकता के कारण की व्याख्या। जब तक यह तीनों बातें किसी में सम्मिलित न हों तब तक उसे पूर्ण धर्म कहना नितान्त निरर्थक होगा।

आचरण के तीन विभाग होते हैं:—(१) अनुकरण (२) सोचविचार (३) साक्षात्कार।

बच्चों में अनुकरण करने का भाव अधिकता से होता है। उनमें सोचविचार की कमी रहती है और उन्हें साक्षात्कार का भान नहीं होता। साधारणतया यही देखा जाता है। बच्चा जिस काम को करते हुये देखता है उसी का अनुकरण करने लगता है। इस श्रेणी में विश्वास और श्रद्धा बहुत होती है और इस प्रकार का कर्म और अभ्यास धर्म की प्रथम सीढ़ी है। यह अवस्था कुछ काल तक रहती है। इसका सम्बन्ध केवल शरीर से है और इस प्रकार का धर्म केवल शारीरिक मनुष्य का मार्ग है; परन्तु संसार में कोई मनुष्य ऐसा नहीं है जो सारे जीवन भर उसी में पड़ा रहे। आरम्भ में शारीरिक परिश्रम से काम लिया जाता है और जब शरीर के अंगों को अधिक गति मिलती है उसका परिणाम यह होता है कि मन को भी गति प्राप्त होती है और मानसिक गति मनुष्य को मानसिक मनुष्य बनाकर बाहर की ओर से किसी सीमा तक असावधान कराते हुये उसे अन्तर जगत की ओर दृष्टि करने के लिये विवश करती है और वह सोचविचार, ध्यान करने का अभ्यासी होने लगता है-यह दूसरी सीढ़ी है। पहली सीढ़ी शारीरिक थी, दूसरी मानसिक है। जिस समय मन इधर ध्यान दे यह समझ लो कि मनुष्य एक स्थल के ऊपर चढ़ आया और अब

दूसरे स्थल पर उसकी बैठक आगई। कुछ समय तक वह बाह्य कर्म को नहीं त्यागेगा परन्तु ज्यों ज्यों उसे मन के भीतर प्रवेश करने का अवसर प्राप्त होता जायगा उतना ही वह प्रथम स्थल को छोड़ता हुआ दूसरे से अधिक सम्बन्ध रखेगा।

इस सम्बन्ध की भी अवधि है क्योंकि सृष्टि प्रबन्ध में कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो अवधि वाली न हो। यहाँ सब सीमा के भीतर हैं। यह जगत काल की सृष्टि कहलाता है। काल समय को कहते हैं। समय सदैव बदलता रहता है और समय का फेर शरीर और मन को बदलने के लिये विवश करता रहता है और मन एक विचार और एक ध्यान के चारों ओर मँडलाते रहने का अभ्यासी हो जाता है।

शरीर और मन के व्यवहार में जो भेद है वह अन्तरीय और बाह्य पने का है अथवा स्थूल और सूक्ष्म पने का है और इस दृष्टि से शारीरिक मनुष्य और मानसिक मनुष्य के धर्मों में स्वभावतः बहुत बड़ा अनुभूत भेद दिखाई देने लगता है औरइन के व्यवहार में पृथ्वी और आकाश का अन्तर आजाता है।

इस मानसिक धर्म के दो मार्ग हैं। एक विचार अथवा ध्यान और दूसरे ध्येय पदार्थ के चारों और मन्डल बाँध कर उसी को दिन प्रतिदिन घना करते रहना। जब बिचार में किसी सीमा तक दृढ़ता आ जाती है तो फिर स्वभावतः मानसिक स्थल से स्वयं ऊँचे चढ़ने की आवश्यकता होती है और मनुष्य अधिक उन्नति की ओर पग बढ़ाता है। यहाँ किसी उन्नतिशील के उसी स्थल में पड़े रहने की सम्भावना नहीं है। जो ऊँचे चढ़ने के योग्य होता है प्रकृति स्वयं उसे धक्के दे कर निचले स्थल से हटा देती है। ऊँचा मनुष्य नीचे किसी दशा में भी नहीं रहने पाता।

जब मानसिक स्थल से उन्नति हो गई तब मनुष्य बुद्धि-स्थल की ओर मुख करता है और उस ओर झुकने से वह बुद्धि शील मनुष्य कहलाने लगता है। बुद्धि एक तत्व है जो इस संसार में सबसे अधिक सूक्ष्म, सबसे अधिक पूर्ण और सबसे अधिक सर्व-व्यापक है। यह अणु-अणु में और बूँद-बूँद में है। कोई भौतिक सृष्टि चाहे वह चल समझी जाय अथवा अचल, इससे रहित नहीं है, प्रत्युत वास्तविक बात तो यह है कि यह जो कुछ तुमको दृष्टि-गोचर होता है सबमें बुद्धि ही सम्मिलित है। यह बुद्धि सृष्टि प्रबन्ध में चैतन्य अथवा आत्मा से बहुत समीप है। केवल अति सूक्ष्म और बारीक आवरण इन दोनों के बीच पड़ा हुआ है। जब मन इस आवरण को फाड़ देता है तब उसे आत्मा का दर्शन होता है और इसी दर्शन का नाम साक्षात्कार है।

इस बुद्धि स्थल में प्रवेश करने की दो श्रेणियां हैं। एक का नाम निदिध्यासन है और दूसरे का नाम साक्षात्कार है। निदिध्यासन गहरे ध्यान का नाम है और साक्षात्कार का अर्थ है किसी के समक्ष पहुँचना, उसको देख लेना और उसके अस्तित्व और प्रादुर्भाव के ज्ञान से मिल रहना। इस श्रेणी की पहली सीढ़ी मन ही से सम्बन्धित है। गहरा ध्यान मन ही को होता है और मन ही ध्यान करता हुआ जब गहरी दृष्टि से दृष्य पदार्थ को देख लेता है तब उसी का नाम साक्षात्कार हो जाता है। देखने, ध्यान करने और जानने की वस्तु क्या है? वह आत्मा है। आत्मा ही जानने, समझने, पहिचानने और ध्यान करने के योग्य वस्तु है। यह सबसे ऊँचा है। शरीर से ऊँचा, मन से ऊँचा और बुद्धि से भी ऊँचा यह आत्मा है। यह मन और वाणी के परे है। बुद्धि उसे जानती नहीं, क्योंकि यह बुद्धि से भी अधिक सूक्ष्म है।

फिर इसका साक्षात्कार कैसा ? जो वस्तु, इन्द्रिय, ज्ञान, मन और बुद्धि के आधीन न हो उसका जानना, समझना और पहिचानना कठिन कार्य्य है। इसके सम्बन्ध में तुम इस प्रकार समझो:—भीतर दीपक जल रहा है उसके ऊपर फानूस (कपड़े का गिलाफ) पड़ा है। फानूस एक प्रकार का सूक्ष्म आवरण है। दीपक फानूस से भिन्न है, परन्तु उसका प्रकाश फानूस से छन-छन कर बाहर-भीतर रहता है। मन से यह प्रकाश ऊँचा अवश्य है परन्तु सूक्ष्म हो जाने के कारण मन पर उसका प्रतिविम्ब उसी प्रकार पड़ने लगता है जिस प्रकार फानूस पर दीपक के प्रकाश का प्रभाव होता है। जब यह अवस्था होती है तो मन प्रथम उसी प्रतिबिम्ब को देख कर ध्यान करने लगता है और बुद्धि की सहायता से उसका आँशिक ज्ञान प्राप्त करता हुआ उसी में लीन होने की अवस्था अपने में उत्पन्न कर लेता है। इसी का नाम शास्त्रों ने साक्षात्कार रखा है।

यह तीन धर्म की श्रेणियाँ हैं और इन्हीं तीनों का नाम कर्म-काण्ड, उपासना काण्ड और ज्ञान काण्ड है।

आरम्भ में ऋषियों ने केवल दो ही श्रेणियाँ स्थापित की हैं—कर्म और ज्ञान। पीछे उपासाना की मद उसमें बढ़ाई गई। ऐसा क्यों हुआ ? इसका उत्तर हम इस प्रकार देते हैं:—

उपासना वास्तव में केवल पास बैठने को कहते हैं। उप= समीप और आसन=बैठक। यह एक प्रकार की मध्य अवस्था है जो मन से सम्बन्धित है। मन, शरीर और बुद्धि के बीच में, मध्य कड़ी है। मन ही इस ओर शरीर को गति देता है और यही दूसरी ओर बुद्धि को गति देता है। शरीर की गति का नाम कर्म है और बुद्धि की गति का नाम ज्ञान है। मन दोनों ही में सम्मिलित है। मन सम्मिलित हुये बिना न शरीर कुछ कर

सकता है, न बुद्धि ही कुछ कर सकती है। मन माध्यमिक पुल है। उसके इस पार शरीर है और उस पार बुद्धि है। वह तो अवश्य ही सम्मिलित रहेगा। इस लिये उस समय में उसके पृथक श्रेणी के स्थापन करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई थी। हिन्दू पहले या तो कर्म करते थे अथवा ज्ञान की ओर ध्यान देते थे। इसी कारण मीमान्सा केवल दो हैं– एक पूर्व मीमांसा जो जैमिनि ऋषि का मार्ग है, दूसरा उत्तर मीमांसा जो व्यास ऋषि से सम्बन्धित है। पूर्व मीमान्सा कर्म काण्ड है। उत्तर मीमाँसा ज्ञान काण्ड है। इसमें कोई संशय नहीं कि इन दो भेदों के रूप देने में कुछ समय लगा होगा। परन्तु व्यवहारिकतया यह बहुत ही प्राचीन मार्ग हैं। पीछे दो बीच के भेद पैदा किये गये जिनको योग और न्याय कहते हैं और इनके प्रबन्ध के कारण मानसिक स्थल के विशेष नाम देने और उपासना काण्ड के स्थापन करने की उपयोगिता समझ पड़ी। योग के दो भेद हैं:—साँख्य योग और पातञ्जलि योग। इनमें से पहला तो बुद्धि तत्व की सहायता से सृष्टि प्रबन्ध के तत्वों की समझ प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यह विचार योग है। कपिल का साँख्य योग संसार में सारे वर्तमान सिद्धान्तों में सबसे प्राचीन मार्ग है और पातञ्जलि का योग भी प्रेत्यक पदार्थ से संयम करके उसके साक्षात्कार कर लेने का सबसे पुराना ढंग है। यह सम्भव है कि इनका वर्तमान रूप देने वाले कपिल और पातञ्जलि अत्यन्त प्राचीन न माने जाँय परन्तु यह मार्ग अति प्राचीन हैं। इनमें उलट-पुलट होती आई, क्योंकि उलट पुलट का होते रहना प्रकृति का स्वभाव है। इसी प्रकार न्याय की दो पाठशालायें हो गईं। एक का सम्बन्ध गौतम से है जो न्याय का शिक्षक कहलाता है। दूसरा वैशेषिक है जिसको कणादि ऋषि से सम्बन्धित किया जाता है। यह वास्तविक ईश्वर

वादी पंथ हैं और अपनी युक्तियों से उसके अस्तित्व को बड़ी ही बुद्धिमानी के साथ सिद्ध करते हैं।

विचार करने, प्रश्न करने और जानने के लिये गुरू के पास जाकर बैठने और उनकी सेवा में रहने की आवश्यकता होती थी। इसी कारण से उस बीच के ठेके का नाम उपासना पड़ा। पहले उसका रूप कुछ और था। तत्पश्चात अनुभव ने सिद्ध कर दिखाया कि जब तक शिष्य में गुरू के साथ सच्ची सहानुभूति और श्रद्धा न हो और जब तक दोनों एक रूप न हो जाँय तब तक भली प्रकार एक के विचार, विश्वास और ज्ञान का प्रतिबिम्ब दूसरे के मन में नहीं पड़ सकता। इसके प्रमाण उपनिषद में मिलते हैं। प्रजापति के दो शिष्य इन्द्र और विरोचन थे। एक देवता था, दूसरा असुर था। प्रजापति ने दोनों को आत्मविद्या सिखाई परन्तु दोनों पर भिन्न भिन्न प्रभाव पड़ा। इन्द्र को देवता होने के कारण से प्रजापति से अधिक सहानुभूति थी। वह तो आत्म-ज्ञानी हो गया और विरोचन में राक्षसी संस्कार की अधिकता थी। उसमें वह सहानुभूति नहीं थी। इस कारण वह देहात्माभिमानी रह गया। इन सब बातों पर विचार करने से इस उपासना काण्ड के सुधार की आवश्यकता प्रतीत हुई और गुरु भक्ति का प्रचार हुआ और ज्ञान काण्ड रहस्य विद्या हो गया जिस का विचार गृहस्थाश्रम छोड़ने पर केवल बन में किया जाता था। यह उपासना काण्ड का आरम्भ है। पिछले समय में बहुधा स्वभाव ऐसे नहीं थे कि उनको सीधे ज्ञानी गुरु से आत्म ज्ञान सीखने का अवसर प्राप्त हो और साथ ही गृहस्थी धर्म के त्याग की भी आज्ञा थी। अनुभव ने अवतार पूजा के भेद को बढ़ा दिया जिसमें गृहस्थी भी ध्यान के लाभ से वञ्चित न रहने पावें। यह उपासना काण्ड का इतिहास है। पीछे यह बढ़ते-बढ़ते भक्ति-भाव के रूप में प्रकट हुआ जिसका

वर्तमान रूप हम अधिकतया राम और कृष्ण के उपासकों में देखते हैं।

यह कर्म, उपासना और ज्ञान की संक्षिप्त व्याख्या है।

हिन्दू धर्म में सब धान बारह पंसेरी का नियम नहीं बरता जाता। जो मनुष्य जैसा हो और जिसका मन जिस प्रकार का संस्कार रखता हो उसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा से उसका सम्बन्ध उत्पन्न कराया जाय नहीं तो भले प्रकार धार्मिक तत्त्व का प्राप्त होना कठिन होता है।

संसार में तीन प्रकार के मनुष्य हैं—शारीरिक, मानसिक और बुद्धिवादी। शास्त्रों में उनके लिये विशेष नाम यह हैं–मूढ़, विक्षेप, और अज्ञानी और तीनों के लिये तीन नियमों का आचरण बाध्य है। मूढ़ अत्यन्त शरीरोपासक है। उसकी दृष्टि शरीर के अतिरिक्त और किसी पर नहीं पड़ती। वह मन रखता हुआ भी अमन है। उसे यह भी सुधि नहीं कि मन भी कोई वस्तु है अथवा नहीं। इस कारण उसको केवल कर्मकाण्ड का अधिकार दिया गया है। वह हाथ पाँव से काम ले, सेवा करे, नित्यनियम का कठोरता के साथ आचरण करे और जब तक कर्म करते हुये उसको मन की समझ न आवे वह उसी में लगा रहे। अन्य प्रकार की शिक्षा से उसको लाभ न होगा।

विक्षेप उसको कहते हैं जिसका मन चंचल है, अस्थिर है, बेचैन है। इसे मन की तो सुधि हो गई परन्तु इस बात की अब तक समझ नहीं है कि मन की चंचल वृत्तियों को किस में लगा कर रोका जाय। इसके लिये उपासना के दो भेद हैं—एक बाह्य-दूसरा अन्तरीय। जब तक विक्षेप चित्त वाले में मूढ़ की शरीरोपासना विद्यमान है तब तक वह बहुधा गुरु के पास बैठे, मन्दिरों में पूजा पाठ करे,मन को किसी न किसी बाह्य साधन में लगा रक्खे और जब तनिक उसमें परिवर्तन अनुभव होने

लगे तो इसी साधन को अपने अन्तर में करे। अन्तर में गुरु की अथवा अवतार की मूर्त्ति का ध्यान करे। अन्तर ही उसकी सेवा, पूजा, भजन, स्तुति हो। जब थोड़े दिन के अभ्यास से यह अवस्था आ जाय तो वह मन को वश में करने के योग्य हो जायगा और चंचलपने के रोग से मुक्त हो जायगा।

तीसरी श्रेणी अज्ञानी की है। अज्ञानी को शरीर का ज्ञान है मन का भी ज्ञान है परन्तु इस बात का ज्ञान नहीं है कि आत्मा क्या वस्तु है। इससे वह नितान्त अनभिज्ञ है। उसने यदि चार प्रकार के साधन कर लिये हैं और मन-इन्द्रिय को वश में रख सकता है, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी पर अधिकार है, संसार से चित्त फिरा हुआ है और साथ ही मुक्ति का अभिलाषी भी है तब उसको ज्ञान में लगाना चाहिये और वह उससे लाभ उठायेगा और ज्ञान को प्राप्त कर लेगा। जब तक किसी ने साधन नहीं किये हैं तब तक केवल ज्ञान की पुस्तकों का पठन उसके लिये लाभदायक नहीं हो सकता।

इस ज्ञान की प्राप्ति के भी कई सोपान हैं—प्रथम श्रवण दूसरे मनन, तीसरे निदिध्यासन, चौथे साक्षात्कार।

श्रवण सुनने को कहते हैं। गुरु की उपासना करता हुआ उनके निकट बैठता हुआ उनके बचन को सुने-यह श्रवण है और बचन को सुनता हुआ उस पर विचार करे यह मनन है। और इस मनन किये परिणाम को अपने अन्तर धारण करता चले यह निदिध्यासन है और धारण किये परिणाम का तद्रूप बने यह साक्षात्कार है।

इस प्रकार प्राचीन समय से हिन्दुओं में धार्मिक शिक्षा का क्रम चलता था और अब भी किसी न किसी रूप में कहीं कहीं वह प्रचलित है।

———

चौथा अध्याय

तीनों मार्गों के अनुसरण में श्रुति की महत्ता

कर्म-काण्ड, उपासना कांड और ज्ञान कांड-इन तीनों ही में श्रुति के मान और महत्ता पर बहुत ही बल दिया गया है और चाहे किसी प्रकार के धार्मिक विचारों में भेद हों परन्तु आदि से लेकर आज पर्य्यन्त किसी समझदार हिन्दू ने श्रुति के विरोध को उचित नहीं समझा और उसका कारण है जिसका संकेत हम ऊपर दे चुके हैं।

श्रुति ब्रह्म की साँस है और वह शब्द है जो ऋषियों ने अपने अन्तर पवित्रता, एकान्त और समाधि की अवस्था में सुना था। उसके सुनने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य पवित्र हो, एकान्त प्रिय हो और आध्यात्मिकता प्रेमी हो। जब तक यह अवस्था न होगी; श्रुति का सुनना निश्चित रूपेण असम्भव है। श्रुति अनहद वाणी है। बाणी तो वाणी ही है। उसका विरोध और रोक-टोक कौन कर सकता है। ऋषियों ने इसी धुन वाली वाणी को अपनी भाषा में परिणित किया और इस प्रकार मन के विशेष अवस्था में स्थित होने की दशा में वह सुनाई दी थी और उनकी समझ में जिस खास ढंग अथवा राग-रागनी में सुनी गई थी उनके सम्बन्ध में नियम बनाये और हिन्दू संसार को उससे लाभ उठाने की शिक्षा दी। यह नियम है कि जब चित्त एकाग्र होता है, विचार और भाव विशेष प्रकार के होते हैं और उस समय जिस मनुष्य की मनोवृत्ति जिस प्रकार की होगी उसी प्रकार के उसमें भावों के उत्पन्न होने की सम्भावना होगी। इस कारण इस विषय में भी भिन्नता होने का भय है। इसी हेतु श्रुति को प्राचीन ऋषियों ने

कामधेनु गौ कही है। कामधेनु की परिभाषा यह है कि जो मनुष्य का अभीष्ट हो वह उससे पूरा हो जाता है।

ईश्वर की परिभाषा में कहा जाता है कि वह न अच्छा है न बुरा, क्योंकि वह गुण रहित है। उसको गुणों के बन्धन से मुक्त समझ लिया गया है, परन्तु जो मनुष्य जिस प्रकार अथवा भाव को लेकर ईश्वर को मानता है, उसी विचार अथवा भाव का उसकी मनोवृत्ति के कारण प्रादुर्भाव होगा। यदि वह अच्छा है तो ईश्वर उसके लिये साक्षात अच्छाई है और वह बुरा है तो उसके लिये वही ईश्वर कठोर स्वामी और कराल राजा के रूप का सिद्ध होगा। भक्तों में चूँकि प्रेम होता है ईश्वर उनकी दृष्टि में प्रेम स्वरूप दिखाई देता है। वही ज्ञानियों को सूक्ष्म सार और परम तत्व भासता है। ध्यानी उसके प्रकाशवान और तेजोमय स्वरूप का दर्शन करते हैं। जो स्वयं जैसा है वह ईश्वर को वैसा ही समझता है और उसके लिये ईश्वर वही सिद्ध होता है। सारा खेल, विचार और भाव का है। इसको इस प्रकार समझिये कि दर्पण स्वयं अति प्रकाशवान और शुद्ध पदार्थ है। वह आप न काला है, न लाल, न श्वेत है, और न उसमें किसी प्रकार के शरीर और अंगों के चिन्ह विद्यमान हैं परन्तु दर्पण देखने वाला जैसा स्वरूप जैसी वृत्ति और जैसी भावना को लेकर दर्पण के सम्मुख खड़ा होगा वैसे ही चिह्न दर्पण में दिखाई देंगे। यदि दर्पण देखने वाला नाक टेढ़ी करता है तो दर्पण में भी टेढ़ी नाक मौजूद है और यदि वह सीधी नाक कर के उसके सम्मुख खड़ा होता है तो उसमें भी सीधी सादी नाक दिखाई देती है। यही दशा श्रुति की भी है। श्रुति केवल अन्तरी गान और राग है। उसकी ध्वनि तो जैसी है वैसी है परन्तु सुनने वाले के विचार में उस समय जो भाव विद्यमान होगा वही उसे उसमें सुनाई देगा। उदाहरणार्थ

कोई मनुष्य सितार की गत बजा रहा है। वह गत की धुन में समझता है दिड़-दा-ड़ा-ड़ा-ड़ा-दा-ड़ा-ड़ा-दिड़-दा-ड़ा-ड़ा-ड़ा-ड़ा-ड़ा-। यहाँ तक तो धुनात्मक शब्द है जिसके उतार का स्थान केवल कान है। एक मनुष्य गजलों का गाने वाला आया—उसे यह राग सुनाई दिया "तेरे इश्क के सौदा में दिलबर दिलोजाँ को अपने निसार किया"--दूसरा मनुष्य हिन्दी का राग जानता है। वह एक दम कह उठेगा--"नहीं वह तो स्पष्ट सितार से यह गत निकाल रहा है 'चल री सखी दर्शन करले रघुनन्दन रथ पर आवत हैं।'" इसी प्रकार यदि और भी किसी भिन्न विचार का मनुष्य सितार के गत की धुन सुनेगा तो उसके अन्तर जो भावना होगी वही तो जागेगी दूसरी कैसे पैदा हो सकेगी। सितार की धुन दिड़-दा-ड़ा-दा-ड़ा भी नहीं है। वह तो जो है सो है। सितारबाजों ने अपने विचार के अनुकूल गतों की माँप बनाली है और उसकी गत प्रेमी गाने वाले के मन में मन के लोट-पोट हो जाने के विचार का शेर पैदा कर देती है और प्रेमी भक्त को राम के दर्शन की याद दिलाती है। नितान्त यही दशा और यही चित्र वेदों के मंत्र भाग की श्रुतियों का है। ऋषियों ने बड़े पवित्र ध्यान की अवस्था में उनको अपने अन्तर सुना। सुनने से पूर्व मन की दशा कुछ थी। सुनने के पश्चात् कुछ हो गई और उन्होंने चाहा कि जो आशीर्वाद हमको इनसे प्राप्त हुआ है वही और मनुष्यों को भी प्राप्त हो, परन्तु यह दूसरे मनुष्य बहिर्मुख थे। अन्तर्मुखी वृत्ति के साधन से अनभिज्ञ थे। इस कारण उन्होंने ऐसे बाहरी नियम प्रचलित किये जिससे उनका मन विशेष दशा में स्थित हो और अन्तरी राग का जो स्वाद ऋषियों को अन्तर में प्राप्त हुआ था वही उन्हें भी दूसरे बाह्य रूप में उसी प्रकार के माप में किसी सीमा तक प्राप्त हो। इस विचार के आधीन कर्मकाण्ड के नियम की

नींव रखी गई। चूँकि अंतरीय साधन के कारण मन के एक विशेष ढंग पर स्थित होकर श्रुति के सुनने से उपयुक्त और ठीक भावनायें उत्पन्न होकर आनन्द और सिद्धि का धन उन्हें प्राप्त हुआ था, उन्होंने निम्न श्रेणी के अधिकारियों के लिये बाह्य जगत में उसी आनन्द और सुख के प्राप्त करने का नियम प्रचलित किया। उस नियम के आचरण के लिये विशेष समय विशेष ऋतु और विशेष विशेष तिथियें नियत कीं और आज्ञा दी कि बाहर श्रुति उच्चारन के लिये सदैव विशेष प्रकार के बोल चाल का अनुसरण किया जाय। आरम्भ में यह विचार कर्मकाण्ड का प्रवर्तक था। तत् पश्चात लोलुप मनुष्यों के भाव बढ़ते गये और इस क्रम में नाना प्रकार के यज्ञ आदि का प्रादुर्भाव हुआ और वह भी धीरे-धीरे वास्तविकता के न जानने के कारण आज विस्मृत हो गये हैं। यदि ऐसी श्रुति के रक्षा का इतनी कठोरता के साथ प्रबन्ध न किया जाता तो वह करते क्या? प्रत्येक मनुष्य तो उसका अधिकारी हो नहीं सकता और उसके साधारण रीति पर प्रचार करने में भी भविष्य में और प्रकार की भूलों और अनसमझियों के फैलने का बहुत ही अधिक भय था, इस कारण उनको आरम्भ में केवल अभ्यासियों की सम्पत्ति बना दी गई। तत् पश्चात जब अभ्यासी नहीं रहे तो वह विद्वानों के हाथ में आईं और उनकी व्याख्या आदि का और विस्तार हुआ। हम यदि चाहें तो यहां किसी सीमा तक बता सकते हैं कि श्रुति की सहायता से किस प्रकार विशेष यज्ञों से विशेष देवताओं से सहायता लेकर सिद्धि प्राप्त हो सकती है परन्तु विषय बहुत बढ़ जायगा और उस विस्तार से कोई लाभ नहीं है। वेदों की वास्तविक स्थिति समझाने के लिये केवल इतना ही संकेत पर्याप्त है।

परन्तु यह स्मरण रहे कि मनुष्यों के स्वभाव कभी एक

प्रकार के नहीं होते। अपने आस पास के मनुष्यों ही को देखो। किसी को बनाने की लगन रहती है किसी को बिगाड़ने की। कोई शान्तिप्रिय है कोई लड़ाई झगड़े की नींव रखता है इत्यादि २। सारे मनुष्य स्वाभाविकतया कर्मकाण्ड ही के इच्छुक नहीं हो सकते और न सब के सब यजुर्वेदी हो सकते हैं। ऐसे भी आदमी हैं जो ईश्वर के गुण-गान करते हुये उसी के ध्यान में मस्त रहना पसन्द करते हैं। यह उपासक कहलाते हैं। 'उपासक' संस्कृत शब्द 'उप' (आगे) और 'अस' (होने) से निकला है। कोई ईश्वर की पूजा, ईश्वर की समीपता और ईश्वर की अराधना किसी रूप में करते हैं, कोई उसे गुरु के रूप में पूजता है और कोई मानसिक इष्ट के रूप में। यह उपासक संख्या में सबसे अधिक होते हैं। उपासक के शाब्दिक अर्थ 'शूद्र' के हैं। शूद्रों की संख्या सदैव औरों से बढ़ी चढ़ी रहेगी। इनको स्तुति प्रार्थना से अधिक काम रहता है। पहले ऋषियों के समय में ऐसे लोग श्रुति को अपने अन्तर सुनते हुये उसी की धुन में अन्तर ही अंतर स्तुति गा गा कर मानसिक मस्ती और समाधि की अवस्था में लीन हो जाया करते थे। इनका पद सामवेदी है, परन्तु समय के फेर ने इनको भी बहिर्मुखी बनाया और यह अंतर के आध्यात्मिक स्थल को छोड़कर जिभ्या के शारीरिक स्थल पर आकर वही कर्त्तव्य पालन करने लगे और उसी के क्रम में संसार में भिन्न भिन्न मतों का आरम्भ हुआ और नाना प्रकार के इष्ट देव गढ़े जाने लगे। धीरे-धीरे इस पंथ ने इस प्रकार आगे चलकर पग बढ़ाया कि अब वही बहु संख्यक मानुषी समुदाय का असली धर्म बना हुआ है और वह करोड़ों मनुष्यों की आत्मिक संतोष का कारण बना हुआ है। वैष्णव, शाक्त, शैव और दूसरे मतावलम्बियों की चाहे वह कोई क्यों न हो इसी सूची में गणना

है। यह सब के आकर्षण का हेतु बना हुआ है और जब तक मनुष्य मन की ओर झुकेगा, यह किसी न किसी रूप में विद्यमान रहेगा। इसमें समय की आवश्यकता के अनुसार बराबर परिवर्तन होता रहेगा।

परन्तु संसार में ऐसे मनुष्य भी हैं जिनको न कर्म संतोष दे सकता है और न उपासना। वह इनके अतिरिक्त और भी कुछ चाहते हैं। यदि इनकी इच्छा पूर्ति नहीं हुई अथवा इनके संतोष का प्रबन्ध न किया गया तो यह सदैव प्रचलित मतों के विरोधी हो जाँयगे। यह चाहते क्या हैं? यह लोग तत्व को खुली आँखों से देखना चाहते हैं। इन्होंने किसी न किसी रूप में शरीर और मन की अवस्थाओं पर अधिकार पा लिया है। अब उनकी ओर इन की दृष्टि नहीं जाती। यह जानना चाहते हैं, कि हम इस सृष्टि प्रबन्ध में कौन हैं? ईश्वर क्या है? यह जगत क्या है? हम क्यों ईश्वर की पूजा करें? हमको क्यों सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं है और कौनसी बिगड़ी हुई बात है जिसके कारण संसार के कुत्ते जैसी रूप वाली पूँछ कभी सीधी नहीं होती? यह प्रश्न सदैव उनकी जिह्वा पर आयेंगे और उनका आना आवश्यक बात है। इनको चुप कौन कर सकता है? किसकी शक्ति है कि बल-पूर्वक इन्हें किसी विशेष मत की जंजीर से जकड़ कर बाँध रक्खे। यह बन्धन की अवस्थाओं का अनुभव करते हुये उनसे उकता गये हैं। अब यह किसी के सँभाले सँभल नहीं सकते। किसी के रोके रुक नहीं सकते। यदि बल-पूर्वक बन्धन लगाया गया तो यह समाज की अवस्था को उलट-पुलट कर देंगे। मरेंगे, मारेंगे और किसी को चैन न लेने देंगे। यह मुक्तों और मुक्ति प्रिय मनुष्यों का समुदाय है। जिनमें इस प्रकार के भाव दृष्टि-गोचर हों, समझलो कि यह ज्ञान के अधिकारी हैं और हिन्दू-धर्म की यह

बहुत बड़ी विशेषता है कि वह उनको उन्हीं पवित्र श्रुतियों के विमल उपदेश का निमंत्रण देता हुआ अपनी ओर बुलाता है और उनकी शान्ति और संतोष का प्रबन्ध करता है। परन्तु शर्त यह है कि यह पवित्र श्रुति की निन्दा न करें, उसके सम्मान का ध्यान रक्खें। यदि यह भाव इनके हृदयों के अन्तर विद्यमान है तो श्रुति उनको सन्मार्ग पर लायेगी और यदि वह इस श्रुति को ग्रहण नहीं करते तो फिर हिन्दू धर्म इनकी ओर ध्यान देने से इन्कार करता है। हम ईश्वर के न मानने वाले को नास्तिक नहीं कहते। हम वेदों के न मानने वाले को नास्तिक समझते हैं। मनु भगवान का बचन है "नास्तिको वेद निन्दकः" वेद की निन्दा करने वाला ही नास्तिक है, दूसरा नास्तिक नहीं है। क्यों ? कारण यह है कि ईश्वर के सारे अंग वेद में विद्यमान हैं। यदि कोई ईश्वर को नहीं मानता तो उसकी भ्रान्ति का उपाय सम्भव है परन्तु जो वेदों का आदर नहीं करता तो उसका मार्ग पर आना हिन्दुओं की सामाजिक दृष्टि-कोण से असम्भव है और फिर ऐसे मनुष्य को अधिकार है कि वह यदि चाहे तो हमारा समाज छोड़ जाय। जहाँ जी चाहे वहाँ चला जाय। जो मनुष्य हिन्दुओं के मध्य पैदा हुआ है, कम से कम उसमें कुछ न कुछ तो जातीय नियमों का अनुसरण आवश्यक है। इस अर्थ में हमको मान लेने से इन्कार नहीं है कि हम सामाजिक दृष्टि से दास बने हुये हैं परन्तु धार्मिक दृष्टि से कोई भी जाति संसार में ऐसी नहीं हैं जो हमारे जैसी स्वतंत्र हो। तुम ईश्वर को न मानो इससे कुछ हानि नहीं है परन्तु वेदों से प्रचलित जातीय नियमों और जातीय संस्कारों को तो मानो। इसमें तुम्हारी क्या हानि है। जहाँ जाओगे, प्रत्येक स्थान, प्रत्येक समाज की प्रचलित सभ्यता का अनुसरण तो किसी न किसी रूप में अवश्य ही करना पड़ेगा, फिर इसको क्यों

धक्का पहुँचाते हो और यदि इस पर तनिक तुम आरूढ़ रहो तो वेद भगवान स्वयं ही तुम्हारा संतोष कर देंगे।

ऊपर के इन थोड़े से प्रश्नों के उत्तर का नाम ज्ञान-काँड है जिसके सम्बन्ध में ऋग्वेद से लेकर और सारे वेदों में बहुत बहुत से मंत्र मिलते हैं और पीछे समय में प्रत्येक वेद के साथ इन मंत्रों ने उपनिषदों के रूप धारण करके खोजी और अन्वेषकों को आध्यात्मिक शान्ति दी है। वेदों के उपनिषद भाग ज्ञान काण्ड कहलाते हैं। यह धार्मिक जगत के पुस्तकालय की वह अद्वितीय पुस्तकें हैं जिनकी उपमा अब तक कहीं दिखलाई नहीं देती। इनसे मृत्यु और जीवन में शान्ति मिलती है। यह आध्यात्मिक दीपक हैं जो अपना प्रकाश दे-देकर मार्ग को भला प्रकार दिखा देते हैं। आज कल के पुस्तकों की बाढ़ के समय में यदि उपनिषदें लिखी जाती तो कोई छापे वाला इनको मुद्रित न करता, परन्तु यदि वह लाखों करोड़ों नहीं तो कम से कम सहस्रों वर्ष पहले तो अवश्य ही लिखी गईं थीं और अब तक उनकी सर्व-प्रियता को तनिक भी धक्का नही पहुँचा है। हमने दूसरे अध्याय में कई जगह इन उपनिषदों के प्रमाण दिये हैं इस कारण यहाँ दोबारा उनका दोहराना आवश्यक नहीं समझते।

इस प्रकार इस देश में विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानियों का सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ जो कर्म और उपासना को अपर्याप्त समझकर वास्तविकता की ओर झुका और श्रुति का आदर करता हुआ शान्ति को प्राप्त हुआ और हिन्दू धर्म की दृढ़ता का कारण बना।

ज्ञानियों की उन्नति क्रमशः हुई है और इन श्रेणियों का नाम हमारे यहां षट दर्शन है जिनका संकेत पहले आ चुका है। इनमें से वास्तविक खोज कपिल भगवान ने की है। इनके

बाद उन्ही के निर्माण किये हुए भवन को व्यास ऋषि ने अंतिम मार्ग प्रदर्शन करने वाला हाथ लगाकर सुन्दर और पूर्ण बना दिया। पहले का नाम साँख्य है और दूसरे का वेदान्त है। इनके मध्य की कड़ी योग है जिसके नियमों की रचना पातञ्जलि मगवान ने की है।

मीमाँसा, न्याय, और वैशेषक तो पहले ही श्रुतिवादी बताये गये हैं। यह सांख्य-योग और वेदान्त भी हद दर्जे के श्रुतिवादी हैं और बाल बराबर भी वेदों के विरोध का साहस नहीं करते।

प्रश्न किया जायगा कि ज्ञानियों को क्यों श्रुति का इतना पक्ष है। उत्तर यह है कि श्रुति का विरोध केवल अज्ञानी मूर्ख करेगा। उसका स्वाभाविक पद ही इस प्रकार का है कि समझ-बूझ वाला मनुष्य उसका विरोध कभी कर ही नहीं सकता। श्रुति अन्तरीय राग है जिसको प्रत्येक मनुष्य प्रयत्न करने पर अपने अन्तर सुन सकता है और जब यह श्रुति ब्रह्म की साँस होने के कारण प्रत्येक प्राणी के जीवन की उत्पादक और सर्व प्रकार के ज्ञान का भंडार है तो उसका खंडन कौन कर सकता है। उसके बिना किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त ही नहीं हो सकता, और जो अपने अन्तर इस अनहद राग को न सुनेगा वह मन की वृत्ति को ब्रह्माकार कैसे बनावेगा। यही तो सबके अस्तित्व और गुणों में सम्मिलित है। खंडन अथवा बहिष्कार तो उसका किया जाता है जो हममें या हमसे न हो। कर्म काण्डी अथवा उपासक तो उसको अपने अन्तर सुनते ही हैं परन्तु ज्ञानी तो ज्ञान के साक्षात्कार करते समय उनसे अपने रूप का ध्यान करने लगेंगे।

ऋषियों ने श्रुति से ज्ञान प्राप्त किया। इस लिये इन दर्शन-कारों ने भी उनका अपने अन्तर अनुभव करके स्थान-स्थान पर

अपने विचारों की पुष्टि में श्रुतियों के प्रमाण दिये हैं।

श्रुति का सबसे सम्बन्ध है यह उसकी महत्ता है और यदि मनुष्य तनिक भी साधन और अभ्यास से सम्बन्ध रखे और थोड़े ही दिन सुरत शब्द योग अभ्यास के साधन में लगे तो वह और भी श्रुति को मानने लगेगा।

श्रुति ही हिन्दू-धर्म के तीनों शाखाओं-कर्म, उपासना औरज्ञान की नींव है। यह प्रत्येक हिन्दू के हृदयाङ्गम होना चाहिये।

पाचवाँ अध्याय

हिन्दू शास्त्र

हम जो बेर बेर श्रुति के विषय पर यहाँ बल दे रहे हैं उसका तात्पर्य यह है कि श्रुति अथवा शब्द का अभ्यास आध्यात्मिकता प्राप्त करने के लिये परम आवश्यक मार्ग है। वेद श्रुति हैं। वेद अथवा श्रुति ही इस त्रिलोकी के वास्तविक शब्द हैं। शब्द अविनाशी और नित्य है और नित्य शब्द यही श्रुति हैं जिनको ऋषियों ने अपने अंतर सुना और अपने शिष्यों को उनके सुनने के अभ्यास की आज्ञा दी परन्तु वहिर्मुखी होने के कारण जब लोग उस मार्ग को भूलने लगे तब स्थूल रीति से उसी का साधन बाहर बताया गया है और अंतरीय यज्ञ को बाहरी यज्ञ के रूप में परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

शब्द का अभ्यास आध्यात्मिकता के दृष्टिकोण से सर्व श्रेष्ठ क्रिया और साधन है परन्तु इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि पहले विशेष प्रकार का स्वभाव बना लिया जाय, चित्त एकाग्र कर लिया जाय, मन पवित्र और शुद्ध हो ले, तब अंतर में जो

अनहद बानी, अनाहत शब्द अथवा देव वाणी सुनी जायगी वह मनुष्य को थोड़े ही दिनों के समय में कुछ का कुछ बना देगी। यह वाद-विवाद का विषय नहीं है। अंतर की बातों को कोई कैसे समझाये और उनका प्रचार क्या करे? वेदों के सर्व साधारण में प्रचार न होने का यही कारण है और हम नहीं समझते कि जब कोई मनुष्य वेदों की इस वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त कर लेगा, वह कैसे वेदों के प्रचार का दावा करेगा।

कुछ दिनों वाह्य यज्ञ आदि का अभ्यास रहा। बढ़ते-बढ़ते उसने कई रूप धारण कर लिये। जब लोग बहिर्मुखी हो गये तो साधारण कर्म-काण्ड से आध्यात्मिक शान्ति जाती रही। तब शास्त्रों का युग आरम्भ हुआ जिसका सम्बन्ध विद्या से अधिक और अभ्यास से कम है। अभ्यास पंथ योग है और पातञ्जलि भगवान का सूत्र भी किसी सीमा तक शब्द अभ्यास पर अपने ढंग में प्रकाश डालता है।

हिन्दुओं को चूँकि आदि से धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त थी, प्रत्येक मनुष्य को अपने विचार के बढ़ाने की, प्रचार करने की और विवाद में लाने की स्वतंत्रता थी। एक के पश्चात दूसरे, यहाँ एक दो नहीं, प्रत्युत सैकड़ों ही शास्त्रों की शाखायें पैदा हो गईं। छः दर्शन चूंकि श्रुति के अनुयाई थे वह विशेष स्थिति में माने गये। शेष ने चूंकि श्रुति का विरोध किया अथवा अवहेलना की इस कारण उनको हिन्दुओं के पवित्र शास्त्रों की सूची में विवेचनात्मक स्थान नहीं दिया गया। "सर्व दर्शन संग्रह" के बुद्धिमान रचियता ने अपनी विख्यात पुस्तक में सोलह दर्शनों का उल्लेख किया है, परन्तु यह सम्पूर्ण नहीं हैं और भी बहुत से शास्त्र हिन्दुओं में विद्यमान हैं उसके पश्चात् जितने सम्प्रदायी और पन्थायी पैदा हो गये उनमें से

भी कोई ऐसा नहीं है जो अपना विशेष शास्त्र न रखता हो। समय समय पर इन सब ने हिन्दू धर्म की बहुमूल्य सेवायें की हैं। उनसे इन्कार करना न्याय की हत्या करना है।

हिन्दू शास्त्र चाहे वह जितने हों (चारवाक के अतिरिक्त) शेष सब सम्मिलित सिद्धान्तों पर विवाद करते हैं और अपना पृथक व्यक्तित्व भी रखते हैं।

साधारण बुद्धि का मनुष्य सदैव कर्मकाण्डी बना रह सकता है परन्तु जिसकी मनोवृत्ति ऊँची है उसे इनसे संतोष नहीं मिलता। श्रुति का मार्ग भिन्न था उसमें विद्या और साधन दोनों मिले हुये जीवन को विशेष प्रकार के ऊंचे सांचे में ढालते थे। यह कह दिया गया है कि वेद ब्रह्म के साँस हैं। ब्रह्म की साँस न केवल प्रकृति का नियम है प्रत्युत प्रकृति के नियम का प्राण है। जो मनुष्य शब्द का साधन करके अपने आपको इस ब्रह्म की साँस से मिलाकर उससे सहयोग, सहानुभूति और मेल की अवस्था प्राप्त कर लेगा तो उसे अधिक खोज करने की आवश्यकता ही क्या है। उसका जीवन स्वयं कर्म-ज्ञान और उपासना का रूप बन जाता है। इस कारण उसमें इनमें से किसी की विवेकात्मक और विभागात्मक श्रेणियाँ स्थापन करने की किंचित भी आवश्यकता नहीं रहती। हाँ, जो लोग साधन सम्पन्न नहीं, अन्तर्मुखी नहीं, शब्द अभ्यासी नहीं उनके लिये तो अति आवश्यक है कि वह विवेकात्मक शक्ति को बढ़ा कर सोचें, समझें, विचारें कि वास्तविकता वस्तु क्या है और यही विचार शास्त्रों के प्रारम्भ का कारण हुआ।

हिन्दू शास्त्रों ने जिन बातों की छान बीन की है उनको हम निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित करते हैं:—

(१) आत्मा—आत्मा अविनाशी है। आत्मा के दो भेद हैं जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा वैयक्तिक है। परमात्मा

अवैयक्तिक है। दोनों का आदि और अन्त नहीं है क्योंकि जिनका आदि अथवा अंत होता है वह अविनाशी और सत्त-सनातन नहीं हो सकते। इस स्थिति में वह सदैव से हैं और सदैव रहेंगे और उनको मरने और नाश होने का कोई भय नहीं हैं। यह शास्त्र के विश्वास, विचार और श्रद्धा का प्रथम सोपान है।

(२) आत्मा के अतिरिक्त कोई वस्तु प्रकृति भी है जो इस सृष्टि का उपादान कारण है। इस विचार को सांख्य ने सब से अधिक उन्नति दी है। वह पुरुष और प्रकृति दोनों का मानने वाला है। न्याय और वैशेषिक भी इसी बिचार के हैं। सांख्य कहता है:—"ना वस्तुनो वस्तु सिद्धि" अभाव से भाव की सम्भावना कठिन है। गीता में भी भगवान श्री कृष्ण की वाणी हैं "नासतोविद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः" अर्थात् अभाव से भाव और भाव से अभाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। और यह विचार इस दृष्टि से अत्यन्त सत्य है। परन्तु तत्-पश्चात वेदान्त ने एक पग और आगे बढ़कर स्पष्ट शब्दों में घोषित कर दिया कि जिसको तुम प्रकृति कहते हो, वह वास्तव में अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रखती। उसकी स्वतंत्र सत्ता का विचार भ्रम मात्र है, मिथ्या है और मिथ्या धारणा पर अवलम्बित है। प्रकृति की सत्ता ब्रह्म की सत्ता के आधीन है और केवल अपेक्षाकृत है और सूक्ष्मदर्शी दार्शनिक को कभी इस विचार में संशय और भ्रम न उत्पन्न होगा, यदि वह वेदान्त के सिद्धान्तों पर निष्पक्ष होकर विचार करे।

(३) आत्मा (जीवात्मा) यद्यपि ज्ञान स्वरूप है परन्तु जिस समय इसका सम्बन्ध शरीर अथवा इन्द्रियों से होता है वह इसका अभिमानी होकर परमात्मा से अपने आप को पृथक मानने लगता है। इस जीवात्मा में देवता-मनुष्य और पशु इत्यादि सब ही सम्मिलित हैं। ब्रह्मा से लेकर चींटी अथवा

उससे भी छोटे जन्तु तक सब ही इस प्रकार की सृष्टि हैं। विष्णु, शिव इत्यादि भी ऐसे ही हैं।

(४) जब यह आत्मा शरीर के साथ सम्बन्ध पैदा करता है तो अपने लिये दुःख मोल लेता है। बन्धन में पड़ जाता है। इन्द्रियों का अभिमानी होकर सुख-दुख के संस्कारों का भागी होता है और व्यक्तिगत जीवन, व्यक्तिगत अस्तित्व और व्यक्तित्व के भ्रम को पक्का करता हुआ दुख से बचने और सुख के प्राप्त करने के परिश्रम में लग जाता है और शुभ और अशुभ काम करने लग जाता है। जहाँ पुण्य होगा वहाँ पाप का भी होना आवश्यक है। दोनों आपेक्षिक शब्द हैं। द्वन्द के स्थल में सम्भव नहीं कि कोई व्यक्ति नितान्त ही बुरा अथवा नितान्त ही अच्छा हो और इस अवस्था में उसके कर्म भले और बुरे दोनों ही होते हैं। इस कारण जब पुण्य की अधिकता होती है तो उसे सुख मिलता है और बुराई की अधिकता से उसे दुखी होना पड़ता है। इससे किसी प्रकार छुटकारा नहीं है। अवश्य-मेव भोक्तव्यं कृत कर्म शुभाशुभम्" (शुभ और अशुभ कर्मों का फल भोगना अवश्य है)। प्रकृति में दण्ड और पुरस्कार का नियम साथ साथ चलता है। भलाई का पुरस्कार और बुराई का दण्ड मिलता है।

(५) परन्तु इन कर्मों के फल भोगने के लिये केवल नर्क और स्वर्ग का जाना ही बस नहीं है। मनुष्य सदैव न नर्क में रहता है न स्वर्ग ही में। स्वर्ग आनन्द की अवस्था है, नर्क दुख की अवस्था है। जब स्वर्ग में मनुष्य सुख भोग लेता है तो उस-को अपने संचित कर्मों के कारण बहुत सी योनियों से निकलना पड़ता है। जैसे उसके कर्म होते हैं उसी के अनुसार उसको योनी धारण करनी पड़ती है क्योंकि अधिकतर यह कर्म विचार के कारण पैदा होते हैं। यदि किसी ने बुराई के साथ वृक्षों की

नाईं अचल पड़े रहने के भ्रम को पुष्ट कर लिया है तो यह विचार और कर्म उसे वृक्ष की योनी में पैदा करेगा और इसी प्रकार जिसके संस्कार और कर्म में पशुता का भ्रम पुष्ट हो गया है उसको उसी प्रकार योनी धारण करनी पड़ेगी। मनु भगवान अपनी स्मृति के बारहवें अध्याय के तीसरे श्लोक में इस प्रकार कहते हैं:-"शुभा-शुभ कर्म मनो देह सम्भवति" अर्थात् कर्म चाहे मानसिक हो, वाचिक हो अथवा शारीरिक अच्छे और बुरे फल देता है। कर्मों ही से मनुष्य ऊँचे-नीचे और मध्य योनियों में पैदा होता रहता है।" यह आवागमन का सिद्धान्त है और यह इतना पूर्ण पेचदार, शास्त्रीय और विचारणीय विषय है कि जिसके विचारने में इन सारे शास्त्रकारों ने अपनी बुद्धि का बहुत बड़ा भाग लगाया है। हम यहां उसके सारे अंगों पर दृष्टिपात नही कर सकते।

(६) कोई कर्म परिणाम से हीन नहीं होता। कर्म ही में भलाई और बुराई की जड़ है। मनुष्यों में कोई आदमी बहुत धनवान है, कोई अति दरिद्र है। कोई सदैव रोगी रहता है, किसी को हम स्वस्थ देखते हैं, किसी की आँख नहीं है, कोई बहुत समझदार है, कोई मूर्ख और अज्ञानी है। इन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का कारण मनुष्य का कर्म ही कहा जा सकता है। इस भिन्न अवस्था में और किसी का हाथ नहीं है। व्यक्ति के कर्मों ने चाहे वह मानसिक हों, वाचिक हों अथवा कायिक, उसे विशेष प्रकार की अवस्था में उत्पन्न किया है। कर्म और संस्कारों के जाल में पड़ा हुआ प्राणी इधर से उधर मारा-मारा फिरता है। लोग कहते हैं, हमने इस संसार में कोई काम नहीं किया फिर क्यों हम पर कष्ट है। उसका उत्तर यह है कि यह कर्म पूर्व जन्मों में किये गये थे। पहले उनका फल नहीं मिला था। अब फल मिल रहा है। हम पूर्व जन्म के कर्मों को अदृष्ट कहते हैं अर्थात्

जो दृष्टि में नहीं आते परन्तु फल दे रहे हैं। बहुधा प्रतिवादी प्रश्न करते हैं कि "यदि यह दण्ड हमारे ही कर्मों का है तो फिर हमको याद क्यों नहीं रहता?" इसका उत्तर यह है कि "अब भी तो तुमको याद नहीं है कि दस साल पीछे अमुक महीने के अमुक तिथि में तुमने क्या काम किया था।" प्रकृति बहुधा विवरण में कम जाती है। केवल प्रतिबिम्ब अथवा कर्मों के संस्कारों को ले लेती है और वह जीवन की नींव बन जाते हैं। विवरण का क्रम विद्यमान अवश्य है। हाँ! यदि किसी मनुष्य में आध्यात्मिकता के संस्कार पैदा हो जाँय और वह इस ओर ध्यान दे तो यह सम्भव है कि वह विवरण के साथ इन्हें अनुभव कर सके, परन्तु प्रत्येक मनुष्य के भाग में यह बात नहीं आती। 'गर्भ उपनिषद' कहती है कि "गर्भ में प्रवेश करने के दुख से स्मृति का ज्ञान नहीं रहता" इत्यादि-इत्यादि।

(७)यह छः बातें हैं जो कि हिन्दुओं के सारे शास्त्रों में साधारण हैं। अब प्रश्न यह है कि "इनसे मुक्ति भी हो सकती है अथवा नहीं?"

उत्तर यह है कि "जब बन्धन अनित्य है तो मुक्ति अवश्य होगी, क्योंकि यदि यह बन्धन नित्य होता तो फिर मुक्ति की कभी आशा न हो सकती। आत्मा वास्तव में अनादि मुक्त है। यह बन्धन केवल मध्य में है और अन्त में वह फिर भी मुक्त होगा।"

प्रश्न—परन्तु यह मुक्ति कैसे प्राप्त हो? उत्तर—"मुक्ति सदैव ज्ञान से होती है। जिस समय आत्मा को अपनी सत्ता, अपनी वास्तविकता और अपने पद का ज्ञान हो जायगा, उसी समय वह इन बन्धनों की निर्बल जंजीरों को खट-खट तोड़ेगा और फिर बन्धन में न आवेगा।

इसी मुक्ति को हिन्दू शास्त्रों में मुक्ति, मोक्ष, कैवल्य अवस्था

संत-गति, परम पद, निर्वाण, निर्द्वन्दपना, अद्वैत अवस्था इत्यादि इत्यादि, भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा है।

प्रश्न—मुक्ति जीते जी होती है अथवा मरने के पीछे ?

उत्तर—जा को दर्शन इत्त हैं, ता को दर्शन उत्त।
जा को दर्शन इत नहीं, ताको इत्तन उत्त॥

ज्ञान के प्राप्त करने पर मनुष्य ज्ञानी हो जाता है। ज्ञानी को जीवन मुक्त कहते हैं, अर्थात जिसने इसी जीवन में मुक्ति प्राप्त करली है। सम्भव है कि ऐसा ज्ञानी प्रारब्ध कर्म के बस होकर कुछ दिनों संसार के दुख-सुख का भागी बना रहे, परन्तु भविष्य के लिये उसके बन्धन के कर्म न होंगे और इस जन्म में प्रारब्ध कर्म करने के पीछे सम्भव है कुछ दिनों वह जीवन मुक्त दशा में रहे मगर फिर वह इस शरीर के छूटने के पीछे विदेह मुक्ति की अवस्था को प्राप्त कर लेगा।

प्रश्न—यह ज्ञान कैसे प्राप्त होगा ?

उत्तर—इसके दो मार्ग हैं। शास्त्र कहते हैं, विवेक विचार से ज्ञान प्राप्त होगा और इस काल में राधास्वामी पंथ के आचार्य हुजूर महाराज ने फरमाया है कि "सत्संग और शब्द योग का अभ्यास करके श्रुति मार्ग की निज अवस्था में अपने अन्तर आ जाओ। अनहद बानी, श्रुतिबानी और देवबानी को अपने अन्तर सुनकर उस सर्वव्यापक नियम के साथ जो तुम्हारे शरीर में भी ओत-प्रोत है, एकता का सम्बन्ध पैदा करलो, वैदिक हो जाओ, वैदिक कहते हैं ज्ञान पने को। इस साधन से विवेक भी बढ़ता जायगा, वृत्ति स्वयं ब्रह्माकार होती जायगी और सुगमता से अपने रूप का साक्षात्कार होगा।"

———

छटा अध्याय

षट दर्शन (संक्षेप में)

प्रथम खण्ड—न्याय

'न्याय' संस्कृत में निश्चित परिणाम पर पहुँचने को कहते हैं। यह तर्क है और साथ ही शास्त्र भी है। न्याय को तर्क मात्र समझना भूल है क्योंकि वह केवल इसी सिद्धान्त अथवा रहस्य के ज्ञान प्राप्त करने ही का मार्ग नहीं है प्रत्युत यह उसका एक आँशिक भाग है। इसका आविष्कार इस अभिप्राय से हुआ था कि मानुषी ज्ञान के शास्त्रीय ढंग पर खोज करने का उचित मार्ग हाथ आये और उसमें सोचने के नियम आदि भी सम्मिलित रहें। न्याय में १६ बातों पर विवाद किया गया है जिसका वर्णन प्रथम सूत्र में ही है। वैशेषिक उससे भिन्न है। यद्यपि वह उसका परिशिष्ट कहलाता है परन्तु भिन्न पदार्थों की ओर उसका ध्यान है।

इन १६ में से पहिला 'प्रमाण' है और इस प्रमाण का ऐसा रूप स्थापित किया गया है जिससे सच्चे परिणाम निकालने में सुगमता हो। इसका वर्णन तीसरे सूत्र में है, वह ४ प्रकार का है:—

(१) प्रत्यक्ष—अर्थात् इन्द्रियों का ज्ञान।

(२) अनुमान—अन्दाजे से परिणाम निकालना।

(३) उपमान—समानता।

(४) शब्द—दूसरों की वाचिक प्रमाणिक साक्षी।

अनुमान के न्याय ने पाँच रूप स्थापन किये हैं जिनका वर्णन प्रथम अध्याय के ३२ वें सूत्र में है:—

(१) प्रतिज्ञा—प्रण, दावा।

(२) हेतु—कारण।
(३) उदाहरण—मिसाल, दृष्टान्त।
(४) उपनय—बौद्धिक विवेक।
(५) निमग्न—परिणाम।

इनकी व्याख्या नीचे के उदाहरण से की जाती है-जैसे—

(१) पहाड़ आग्नेय है।
(२) क्योंकि उससे धुआं निकलता है।
(३) जो वस्तु आग्नेय होती है उससे धुआँ निकला करता है जैसे आग की भट्टी और जो आग्नेय नहीं होती धुआँ नहीं निकलता जैसे पानी की झील।
(४) इस पहाड़ से धुआँ निकलता है।
(५) इस कारण यह आग वाला है।

न्याय शास्त्रों में 'व्याप्ति' से बहुधा बहुत काम लिया जाता है। व्याप्ति का अर्थ है 'व्यापक' अथवा फैला हुआ। व्यापक फैले हुये को कहते हैं और व्याप्य घिरे हुये का नाम है। यह न्याय के दावों में प्रयुक्त होता है। जैसे "जहां धुआँ है वहाँ आग है, इस अवसर पर आग की व्याप्ति है। इसी प्रकार "जहाँ जान है वहां मृत्यु है" यह दूसरी व्याप्ति है। आग और मृत्यु दोनों व्यापक हैं। धुँआ और जान दोनों व्याप्य हैं। नैयायकों का दावा इसलिये इस प्रकार होगा "पहाड़ में आग से व्यापक धुँआ है इसलिये वहाँ आग है।"

दूसरा "प्रमेय" है जिससे 'प्रमा' के सारे विषय का सम्बंध है और जिसके हेतु सच्ची और नितान्त जानकारी प्राप्त करता है। यह शब्द इतना विस्तृत है कि खोज के सारे अंगों के सामान इसी एक शब्द "प्रमेय" में आ जाते हैं। यह प्रमेय १२ प्रकार के हैं और उसका वर्णन नवें सूत्र में आया है:—

(१) आत्मा (२) शरीर (३) इन्द्रिय (४) अर्थ (५) बुद्धि

(६) मन (७) प्रवृत्ति (८) दोष (९) प्रत्यय भाव (आवागवन) (१०) फल (११) वर्ग (१२) अपवर्ग (मुक्ति)

जो कुछ न्याय में, विवाद में आया है अथवा आता है, वह इन्हीं १२ विषयों पर है और सारे वाद-विवाद का आधार इन्हीं पर अवलम्बित है।

यह न्याय के दो प्रबल स्तम्भ हैं।

शेष १४ विषय यद्यपि अनावश्यक न हों परंतु वह वाद के ढंग से सम्बन्धित हैं।

इनमें से प्रथम "संशय" है जिस पर वाद अभीष्ट है। दूसरा "दृष्टान्त" अथवा साधारण उदाहरण है जो विषय की व्याख्या के अवसर पर काम में लाया जाता है। फिर "सिद्धाँत" अथवा परिणाम है जिस पर पहुँचना है। फिर "तर्क और निर्णय" है। 'तर्क' कहते है वाद करने को और 'निर्णय' फैसले का नाम है। 'निर्णय' तक आकर वाद को समाप्त हो जाना चाहिये था परंतु न्याय में वाद के और मार्गों का भी सम्मेलन है जिनसे यह ज्ञात हो जाय कि प्रतिवादी ठीक ढंग पर वाद कर रहा है अथवा टेढ़ा मार्ग ग्रहण कर रहा है। जहाँ विवादास्पद प्रश्न के प्रत्येक अंग पर विचार किया जाय, साथ ही उत्तरों पर प्रत्येक प्रकार की आपत्तियाँ भी उठाई जाँय तो 'वाद' और भी बढ़ जाता है। इस प्रकार के लम्बे वाद का नाम 'जल्पवाद' है। 'जल्प-वाद' में दूसरे के पक्ष के हराने और अपने पक्ष के जिताने की इच्छा रहती है और यही 'जल्प वाद' फिर 'वितण्डावाद का रूप धारण कर लेता है जो वास्तव में दोष दिखलाने और कटाक्ष करने का ढंग है।

विवाद करने के ढंगों को हेत्वाभास (मिथ्या वाद) 'चल' (चालाकी की बात) युक्ति (अनावश्यक उत्तर) और 'निग्रह स्थान' (कटाक्ष करने वाले को वाद-विवाद के अयोग्य ठहरा

देना और उसकी जिभ्या रोक देना) है।

यह गौतम ऋषि के न्याय के १६ विषय हैं। इन सब पर वाद-विवाद करने के पश्चात् न्याय का अंतिम विषय यह आता है कि जन्म मरन से मुक्ति किस प्रकार हो। उसको इस प्रकार कहा गया है:—

"दुख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, अज्ञान, इनके दूर हो जाने से वह वस्तु भी दूर हो जाती है जो इनसे पूर्व थी (अथवा जो प्रथम थी और जिसके क्रम में यह सब उत्पन्न हुये हैं) और तब अंतिम मुक्ति प्राप्त होती है।"

अज्ञान से राग और द्वेष उत्पन्न होता है। राग द्वेष से प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति की मिथ्या समझ से पाप और पुन्य उत्पन्न होते हैं और यह पाप-पुन्य शुभ-अशुभ फल के रूप में जन्म मरन के कारण होते हैं। जन्म मरन से दुख होता है और न्याय शास्त्रों का तात्पर्य उसी भ्रम के दूर करने का है क्योंकि यह अज्ञान दुखों की जड़ है।

न्याय शास्त्र का यह थोड़े से शब्दों में साराँश है।

दूसरा खण्ड—वैशेषिक

वैशेषिक न्याय का परिशिष्ट है। इसकी रचना और पूर्ति कणाद ऋषि से सम्बन्धित है। यह सात पदार्थों का वर्णन करता है:—

(१) द्रव्य (२) गुण (३) कर्म (४) सामान्य (५) विशेष (६) समवाय (७) अभाव।

द्रव्य—पदार्थ अथवा वस्तु को कहते हैं।

गुण—उसका सार अथवा विशेषता है।

सामान्य—साधारणता का नाम।

विशेष—विशेषता को कहते हैं।

समवाय—नित्य सम्बन्ध को कहा जाता है।

अभाव—न होना है, अथवा किसी वस्तु के अस्तित्व का इन्कार है।

अभाव सातवें पदार्थ को कणाद ने अपने शास्त्र में सम्मिलित नहीं किया था, पीछे किसी ने बढ़ा दिया है। वैशेषिक के प्रथम भाग के चौथे सूत्र में इस प्रकार कहा गया है:-"सत्यता के ज्ञान का सबसे बड़ा लाभ विशेष पुन्य के कारण होता है और यह पदार्थों की समानता और भेदों पर विचार करने से प्राप्त होता है। पदार्थ यह हैं:—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव।"

टीका कार लिखता है:—

"इस स्थान पर केवल छः पदार्थों का वर्णन है, परन्तु वास्तव में ऋषि अभाव को भी पदार्थ मानता है।"

इन सात पदार्थों के भेद भी वर्णन किये हैं। पाचवें सूत्र में उनकी संख्या ६ बताई गई हैं:—

(१) पृथ्वी (२) अपस् (जल) (३) तेजस् (अग्नि) (४) वायु (हवा) (५) आकाश (६) काल (७) दिशा (८) आत्मा (६) मन वा अन्तःकरण।

इनसे पूर्व चार द्रव्य (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) और पाचवाँ मन प्रमाणु हैं। पहले चार तो नित्य और अनित्य हैं। अपने वास्तविक प्रमाणु रूप में तो वह नित्य हैं परन्तु मिश्रित दशा में अनित्य कहे जा सकते हैं।

इसके पीछे गुण का वर्णन आता है। छटवें सूत्र में सत्रह प्रकार के गुण बताये गये हैं जो ऊपर वर्णित ६ पदार्थों में रहते हैं। उनके यह नाम हैं:—

(१) रूप (२) रस (३) गन्ध (४) स्पर्श (५) संख्या (६) परिमाण (फैलाव) (७) पृथकत्व (वैयक्तित्व) (८) संयोग-

(मिलाप) (९) विभाग (१०) परत्व (पहली अवस्था) (११) अपरत्व (पीछे की अवस्था) (१२) बुद्धि (विवेक) (१३) सुख (१४) दुख (१५) इच्छा (१६) द्वेष (१७) प्रयत्न (गति)

यह १७ गुण हैं, परन्तु शंकर मिश्र नामी टीका कार ने ७ गुण और इसमें सम्मिलित किये हैं:—

(१) गुरुत्व [भारी पन] (२) द्रवत्व [बहना] (३) स्नेह-[चिकना पन] (४) संस्कार (५) पाप (६) पुन्य (७) शब्द।

यह वैशेषिक और न्याय के २४ गुण हैं। इनके फिर दो भेद कर दिये जाते हैं। इनमें से १६ तो प्राकृतिक पदार्थों के गुण हैं। शेष ८ आत्मा के गुण माने जाते हैं। अत्मा के ८ गुण यह हैं—

(१) ज्ञान (२) प्रयत्न (३) राग (४) द्वेष (५) सुख (६) दुख (७) पुन्य (८) पाप।

कर्म का विभाग वैशेषिक के पहले अध्याय के १७ श्लोक में इस प्रकार आया है:—

(१) उत्क्षेपण (ऊँचा चढ़ना) (२) अवक्षेपण (नीचे उतरना) (३) संकुचन (सुकुड़ना) (४) प्रसारन (फैलना) (५) गमन (चलना,) यह पाँच प्रकार के कर्म हैं।

चौथे पदार्थ सामान्य के दो भेद बतायें गये हैं:—

(१) पर (ऊंचा) (२) वर (नीचा)

पाँचवाँ पदार्थ 'विशेष' का सम्बंध पूर्व के ९ नित्य पदार्थों से है जिनके नाम पहले आ चुके हैं अर्थात:—

(१) आत्मा (२) काल (३) दिश (४) आकाश (५) वायु (६) तेज (७) जल (८) पृथ्वी (९) मन

इन सब की भिन्न भिन्न विशेषतायें हैं—

छटा पदार्थ 'समवाय' (नित्य और आपसी सम्बंध)

केवल एक प्रकार का है। यह वह है कि जो द्रव्य और द्रव्य के गुण से मिला हुआ है अथवा प्रमाणु और प्रमाणुओं से बनी हुई वस्तुओं से सम्बंध रखता है। इसको वैशेषिक ने वास्तविक पदार्थ माना है। घड़ा और मिट्टी, कपड़ा और सूत, गोलापन और गोल वस्तु, पूर्ण और अंश, काम और काम करने वाला-इत्यादि इत्यादि पदार्थों के बीच जो परस्पर सम्बंध होता है वह समवाय कहलाता है।

सातवें पदार्थ 'अभाव' को चार प्रकार पर वर्णन किया गया है:—

(१) सत्ता (प्रकटाव) से पूर्व की अवस्था जैसे घड़े की मिट्टी से बनने के पहले।

(२) सत्ता के पीछे की अवस्था जैसे घड़े के टूट जाने के पश्चात्।

(३) पारस्परिक नेति—जैसे कपड़े में घड़ा नहीं है।

(४) अत्यंत नेति—जैसे झील में आग का न होना।

इन्हीं सात पदार्थों के क्रम में फिर इस जगत और अदृष्ट का विचार चलता है। न्याय और वैशेषिक दोनों ही मानते हैं कि यह जगत अणु के एकत्र होने-मिलने-बिछुड़ने और बिछुड़ कर उनके फिर आपस में मिलने से बनता है। यह उनका मिलना-बिछुड़ना और बिछुड़ कर फिर मिलना अदृष्ट की शक्ति से है। वैशेषिक चौथे भाग के प्रथम सूत्र में कहता है:—"सद अदानोऽमा नित्यमाः" अर्थात् यह सदैव से हैं, सत्त हैं, इनका कोई कारण नहीं है। यह अणु छोटे से छोटे-दृष्टि न आने वाले, टुकड़े न होने वाले और इन्द्रियों के ज्ञान से परे हैं। जिस बात में वैशेषिक सबसे अधिक बल देता है वह यह है कि इनमें से प्रत्येक की अपनी विशेष स्थिति भी है और इसी कारण इसका नाम वैशेषिक हो गया। दो अणु के मिलाप को

द्विणु और तीन अणु के मिलाप को त्रिसरेणु कहते हैं और वह सूर्य्य के किरण के सूक्ष्म प्रमाणुओं से उपमा दिये जा सकते हैं जो मकान के दीवार के किसी छिद्र से अंतर की ओर आई हो।

न्याय सबसे भारी ईश्वरवादी है। वह परमात्मा और जीवात्मा को अलग मानता है। उसके मत में ईश्वर एक है, अन्तर्यामी है, सुख दुख के परे है, अपरिमित और अविनाशी है। यहां एक बात और विचारने की है। न्याय कहता है कि जीवात्मा भी व्यापक है परन्तु उसको ज्ञान केवल उतना ही होता है जितना शरीर की लम्बाई, छोटाई और बड़ेपन से सम्बन्धित है। इसकी व्याख्या न्याय शास्त्र के टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न ढंग से की है परन्तु यही एक बात है जिसकी अधिक पूर्णता गुप्त रूप से साँख्य में और पीछे वेदान्त में हुई है।

न्याय सूत्र यद्यपि छोटी सी पुस्तक है परन्तु उसके सहारे पर बड़ी बड़ी पुस्तकें लिखी गई हैं। इनमें से अवन्याचार्य की कुसमाञ्जलि बलवान रचना है—"कारज की सत्ता कारण की सत्ता का प्रमाण है। प्रमाणुओं का मिलाप, आकाश और पृथ्वी की सत्ता और वेदों की साक्षी से ईश्वर का होना प्रमाणित होता है।"

न्याय और वैशेषिक दोनों ही द्वैतवादी कहे जाते हैं यद्यपि वह वास्तव में त्रिपुटीवादी अथवा अनेकवादी हैं और धर्म के बचपन के स्थल में बैठक रखने वालों की पूरी पूरी तुष्टि करते हैं।

तीसरा खण्ड सांख्य

न्याय और वैशेषिक साधारणतया परमात्मा-जीवात्मा और प्रकृति को मानते हैं। यह त्रिपुटीवाद के अनुयाई हैं।

साँख्य केवल दो पदार्थों को मानता है, पुरुष को और प्रकृति को, इसलिये सच्चे और वास्तविक अर्थों में यही अद्वैतवाद कहा जा सकता है।

साँख्य सूत्र के प्रथम भाग के ७८, ११४, ११७ सूत्रों का अनुवाद देखियेः—

"असत से सत नहीं हो सकता। जो वास्तव में नहीं है उसका भाव के रूप में उन्नति करना कठिन है। जो नहीं है उससे कुछ पैदा नहीं होता, जैसे आदमी के सिर में सींग (नासत उत्पाद्य नृश्रंगवत)। किसी न किसी प्राकृतिक वस्तु का होना आवश्यक है जिससे कुछ पैदा हो सके, क्योंकि प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक स्थान में प्रत्येक समय में नहीं हो सकती (सर्वत्र सर्वदा सर्व सम्भवात) और क्योंकि प्रत्येक सम्भाव्य वस्तु उसी वस्तु से पैदा हो सकती है जिसमें उसकी सम्भावना और योग्यता है।

सांख्य इस जगत का कारण प्रकृति को ठहराता है जिसे वह "अमूलाः मूलम" अर्थात बेजड़ वाली जड़ कहता है—फिर ६८ वें सूत्र में इस प्रकार वर्णन करता हैः—

"यदि कारण का क्रम सदैव बना भी रहे तब भी कहीं न कहीं किसी बिन्दु पर तो ठहराना ही पड़ेगा और प्रकृति ही सब के मूल कारण का नाम है।"

इस प्रकृत्ति को स्थापन करके फिर सांख्य एक के पीछे दूसरे २३ अन्य तत्त्वों का वर्णन करता है जो इस प्रकृति से एक के पीछे दूसरे दूध से दही की नाईं उत्पन्न हुये हैं। यह २३ हैं। प्रकृति २४ वीं है और पुरुष २५ वाँ है। यह साँख्य शास्त्र के २५ तत्व हैं और इसी गणना के कारण वह साँख्य (गणना) कहलाता है। इनमें से प्रकृति तो किसी से उत्पन्न नहीं हुई, प्रत्युत उत्पन्न करती है और २३ तत्वों में से कोई-कोई तो पैदा

होते और अपनी बारी पर उत्पन्न करते हैं और कोई केवल उत्पन्न ही होते हैं और उत्पन्न नहीं करते। इसके विपरीत पुरुष न तो किसी से पैदा होता है और न किसी को पैदा करता है, इन बातों को स्मरण रखना चाहिये।

पुरुष इसी प्रकृति के प्रभाव से बन्धन में आकर जन्म मरन के दुख सहता है और सांख्य ज्ञान इसी से मुक्ति दिलाने का मार्ग है। विवेक को बढ़ा कर सांख्य प्रमा अर्थात सत्य और वास्तविक ज्ञान देता है और २४ तत्वों का रूप बताते हुये पुरुष को अपने स्वरूप के समझने के योग्य बना देता है:—

इसके प्रमाण (ज्ञान) तीन प्रकार के हैं:—

(१) दृष्ट (२) अनुमान (३) आप्त वचन।

दृष्ट इन्द्रियों का ज्ञान है, अनुमान अंदाज है और आप्त वचन गुरु अथवा ऋषि की साक्षी है जिसको शब्द प्रमाण भी कहते हैं।

तीसरे सूत्र में सांख्य कारिका इसी प्रकार कहती है। साँख्य कारिका, साँख्य शास्त्र की अति प्राचीन और प्रमाणिक पुस्तक है।

"पुरुष के अतिरिक्त शेष समस्त पदार्थों की जड़ प्रकृति है। वह किसी से नहीं उत्पन्न हुई। सत्त पदार्थ जो इस प्रकृति से पैदा होते हैं वह भी पैदा करने वाले हैं। इनसे १६ उत्पन्न होते है। आत्मा २५ वां तत्व है। यह न किसी से उत्पन्न हुआ और न किसी को उत्पन्न करता है।"

इस प्रकृति के कई नाम है–मूल प्रकृति, अमूलम मूलम, प्रधान, अव्यक्त, ब्रह्म, माया इत्यादि इत्यादि। इससे जो ७ तत्त्व पैदा हुये हैं उनकी व्याख्या इस प्रकार है:—प्रकृति से जो प्रथम तत्त्व पैदा हुआ है वह बुद्धि अथवा महत् कहलाता है। इसी बुद्धि से दो अंतःकरण (अंतरीय शक्तियाँ) अहंकार और मन

उत्पन्न हुये। फिर अहंकार से पांच तन्मात्रा पैदा हुये और पंच तन्मात्राओं से पंच महाभूत निकले। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध तन्मात्रायें हैं। यह पहले ७ तत्त्व हैं जो पैदा होकर पैदा भी करते हैं और आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी महाभूत हैं।

पंच तन्मात्राओं से उत्पन्न होने के कारण महाभूतों में उनके गुण विद्यमान हैं जैसे शब्द आकाश का, स्पर्श वायु का, रूप-अग्नि का, रस जल का और गन्ध पृथ्वी का गुण है। इसी प्रकार, इसी अहंकार से पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ और पाँच कर्म इन्द्रियाँ और ११ वाँ मन उत्पन्न हुआ है जो नितान्त अन्तः-करण है और ज्ञान और कर्म दोनों के मध्य है। कान, चर्म आँख, रसना, नाक, यह पाँच ज्ञान इन्द्रियां हैं और पाँव, हाथ, वाणी, उपस्थ और गुदा, यह पाँच कर्म इन्द्रियाँ हैं। यह सोलह तत्व हुये अर्थात् पाँच तत्व आकाश आदि, पाँच ज्ञान इन्द्रिय कान इत्यादि पाँच कर्म इन्द्रिय पांव इत्यादि और सोलहवाँ मन, यह १६ पैदा हुये, परन्तु उत्पन्न नहीं करते, इसलिये ७ तत्व, १६ तत्त्व, प्रकृति, पुरुष, इस प्रकार सांख्य के २५ तत्त्वों की गणना है।

आगे चलकर फिर साँख्य इस प्रकृति की और अधिक व्याख्या करता है। वह कहता है कि सत, रज, तम जो तीन गुण हैं उनकी साम्य अवस्था का नाम प्रकृति है। साँख्य के यह तीन प्रकृति के गुण वैशेषिक के तीन गुण नहीं हैं। इनको और उनको एक समझना भूल है। सत प्रकाश है, तम अन्धकार है और रज अन्धकार और प्रकाश दोनों की मिली-जुली अवस्था है। जिस प्रकार जंगल में बहुत से वृक्ष मिले-जुले रहते हैं वैसे ही प्रकृति में यह तीन गुण रहते हैं। जब इनमें न्यूनता व अधिकता आती है तब यह जगत बनता है इससे पूर्व नहीं। यह गुण

प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त रहते हैं और लौट-फेर के साथ रचना के दृश्य का खेल बनाया और दिखाया करते हैं।

यह प्रकृति का खेल अपने लिये नहीं है। प्रत्युत पुरुष के भोग और मोक्ष के लिये है। जब पुरुष को भोग से उपराम हो जाता है तब वह मोक्ष का अधिकारी होता है और प्रकृति के बन्धन उसके लिये टूट जाते हैं।

पुरुष स्वभावतः स्वतंत्र है परन्तु जिस प्रकार लाल रंग के फल की लाली का प्रतिबिम्ब उसके समीप धरे हुये बिल्लोरी कांच पर पड़ता है उसी प्रकार प्रकृति के प्रभाव को वह अज्ञान से अपने में आरोप करके दुखी और सुखी होता है। इसी का नाम संसार है परन्तु जब भली भाँति प्रकृति का ज्ञान उसे हो जाता है तब वह अपने रूप को समझकर उससे मुक्त हो जाता है और यही मुक्ति है।

सांख्य वेदों का मानने वाला और उसकी सत्यता का विश्वासी है। सांख्य सूत्र में एक स्थान पर आता है कि "ईश्वर-ऽसिद्धेः"। अर्थात ईश्वर की सिद्धि नहीं होती। कतिपय मनुष्य इस विचार से उसे निरीश्वर कहते हैं परन्तु ऐसे भी सांख्य-वादी हैं जो किसी न किसी रूप में परमात्मा को हिरण्य गर्भ मान कर उसकी सत्ता को स्वीकार करते हैं।

सांख्य में हिन्दुओं का फिर भी बड़ा मान है। महाभारत के शांति पर्व में एक स्थान पर आता है:—"नास्ति साँख्य समं ज्ञानं नास्ति योग समं बलम्।" अर्थात न सांख्य से उत्तम कोई ज्ञान है और न योग से बढ़कर कोई बल है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने भी सांख्य शास्त्र की बहुत बड़ी महिमा वर्णन की है। जब तक साँख्य का अध्ययन नहीं कर लिया जाता तक तक वेदांत भी कोई लाभ नहीं करता। यह प्रत्येक मनुष्य को ज्ञात है।

यदि न्याय और वैशेषिक धर्म के बचपन के स्थल के

बुद्धि गम्य संतोष का सामान जुटाते हैं तो साँख्य और उसका परिशिष्ट योग मिल-मिलाकर धर्म के युवास्था के स्थल के संतोष दिलाने का प्रयत्न करते हैं। यह उनकी स्थिति है।

चौथा खण्ड-योग

साँख्य का दूसरा अधिक और अंतरीय रूप योग है। पातञ्जलि भगवान ने योग की परिभाषा में कहा है कि "चित्त की वृत्ति के निरोध का नाम योग है।" चित्त की चंचलता के कई कारण हैं। इन्द्रियों का ज्ञान, मानसिक विचार और अनुमान, दूसरों की सुनी-सुनाई बातें, मिथ्या-साक्षी, स्मरण शक्ति इत्यादि-इत्यादि। यह सब चित्त को चंचल बनाती हैं और इस रोग की चिकित्सा यह है कि चित्त की वृत्तियों को इनकी ओर झुकने से रोका जाय। इस रोकने के स्वभाव को अभ्यास कहते हैं। अभ्यास का साथी वैराग है! वैराग कहते हैं इन्द्रियों और शरीर की इच्छाओं के प्राबल्य को रोक रखने को। यह वैराग केवल ईश्वर प्राणिधान से आता है और यही अपनी बारी पर मौज और संतोष का पाठ देता हुआ अभ्यासी की शान्ति का और आध्यात्मिक आनन्द का कारण होता है। ईश्वर की भक्ति के बिना योग का साधन व्यर्थ ही है। वह लाभदायक नहीं होता और न उसका कोई अभिप्राय होता है। ईश्वर के नाम लेने से योग के मार्ग में जो उपाधियाँ खड़ी हो जाती हैं उनमें से किसी का भय नहीं रहता।

इस योग के ८ अंग हैं:—(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान (८) समाधि।

इनकी संक्षेप व्याख्या इस प्रकार है:—

(१) यम कहते हैं मन से सारे नास्ति के भ्रम के दूर करने को।

(२) नियम नाम है मन के अन्तर अस्ति के विचारों के भरने का जिसमें सबसे अधिक आवश्यक ईश्वर भक्ति है।

(३) आसन, देर तक एक विशेष सहज ढंग पर बैठने को कहते हैं। इससे अभिप्राय यह है कि यदि शीघ्र-शीघ्र आसन न बदला जायगा तो चित्त की वृत्ति में गति न आयगी। इससे अधिक और कोई मुख्यता आसन की नहीं है।

(४) प्राणायाम, प्राण की गति के रोक देने का नाम है। इसमें कुछ दिनों विशेष ढंग पर साँस लेने, साँस रोकने और साँस के निकालने की आवश्यकता हुआ करती है और जिस समय अभ्यास करते हुये अभ्यासी देर तक प्राण को रोकने लगेगा, उस समय चित्त की वृत्ति की चंचलता स्वयं दूर हो जायगी। प्राणायाम के अभ्यास का यही तात्पर्य है। अभिप्राय यह है कि शरीर के नस, नाड़ियों तक में कोई गति न रहे और जब गति न रहेगी तो फिर चित की वृत्तियों में भ्रान्ति या चंचलता न आयेगी।

(५) जब चित्त की वृत्ति ठहरने लगी तब उसको किसी विशेष केन्द्र पर स्थित करने की आवश्यकता होती है परंतु यह इतना सहज नहीं है। चित्त को एक स्थान पर गाड़ देने का प्रयत्न वास्तव में योग के साधन का आरम्भ है। यम, नियम, आसन और प्रणायाम केवल आयोजन के ठेके थे जिसमें अभ्यासी में योग के साधन की योग्यता आ जाय और जब इस प्रकार की योग्यता आ गई तो फिर उसे चित के ठहराने की शिक्षा का पाठ मिला। चित्त एक स्थान पर प्रारम्भ में कठिनता से ठहरता है इसलिये उसे बेर-बेर विवश करते हुये उलट-उलट कर उसी विशेष स्थान पर अथवा विशेष केन्द्र पर लाना है। इस अभ्यास का नाम प्रत्याहार है। प्रत्याहार के

योगिक अर्थ ही रोक रखने के हैं। संस्कृत प्रति=बारम्बार और हरि=रोकना।

(६) जब प्रत्याहार अर्थात् चित्त की वृत्ति के एक केन्द्र पर स्थिर करने में कुछ सफलता हो गई तो फिर अब यहाँ से योग की शिक्षा का और क्रम चलता है। अब अभ्यासी को धारणा की शिक्षा दी जाती है। धारना नाम है पकड़ रखने और धारण करने का। चित्त की वृत्ति का एक केन्द्र पर अधिक समय तक ठहरा रहना ही धारना है। यम, नियम, आसन प्राणायाम तो नितान्त ही एक प्रकार के वाह्य साधन थे। प्रात्याहार और धारणा किसी सीमा तक अन्तरीय साधन कहलाये जा सकते हैं; परन्तु यदि लोग चित की वृति को नाक ही के सीध में जमा कर रखते हैं तो वह फिर भी बाहरी साधन रहा। लोग योग की पुस्तक पढ़ने को तो पढ़ते हैं परन्तु वास्तविकता की समझ नहीं आती, इसी कारण हुजूर महाराज ने सारे प्रारम्भिक अंगों का निषेध करके योग की वास्तविक शिक्षा की ओर जिज्ञासु, अधिकारी और अभ्यासी को ध्यान दिलाया और उनको अन्तर में निश्चित रूपेण चित्त की वृत्ति के रोकने और धारण करने की आवश्यक और लाभदायक शिक्षा दी।

(७) योग की वास्तविक शिक्षा 'ध्यान' है, शेष सब ऊपरी तैयारियों के सामान हैं। जैसे लड़ने के लिये सिपाही को पहले सशस्त्र होकर चलना पड़ता है वैसे ही योगी को यम, नियम-आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, और धारणा के दर्जे तय करने पड़ते थे, परन्तु जो मनुष्य पहले ही से तैयार है और समाहित चित्त रखता है उसे इन दर्जों में अटकाना उसकी हानि करना है। ध्यान नितान्त अंतरीय केन्द्र पर किया जाता है। ध्यान के अर्थ संस्कृत में तसव्वुर करने के हैं। योग का असली सोपान (सीढ़ी) यह है और उसका आखरी सोपान समाधि है।

(८) गहरे ध्यान ही को समाधि कहते हैं। संस्कृत सम= इकट्ठा, धा=पकड़ना, ध्यान के विचार को दृढ़ता के साथ पकड़ रखना समाधि है। योग के अंतरीय साधन के दर्जे केवल ध्यान और समाधि हैं।

सुधार सदैव समय की आवश्यकता के अनुसार हुआ करता है इसलिये अब प्राणों के साधन के स्थान पर शब्द का सहज साधन कराते हुये योग की शिक्षा आरम्भ की जाती है। पातञ्जलि भगवान के सूत्र में भी शब्द साधन का वर्णन संकेत में आया है। यही वास्तविक योग है और यह श्रुति योग है अर्थात आंतरिक रीति पर अनहद शब्द को सुनते हुये उसी में चित की वृति का आवश्यक रोक थाम करके उसी में मिल रहने, एक हो रहने और एकता को अपना रूप समझने का नाम योग है। यह किस प्रकार किया जाता है आगे चल कर इसकी युक्ति का वर्णन किया जायगा।

योग के सम्बन्ध में जितनी भ्रान्त प्रकृतियाँ हैं कदाचित और किसी विषय के सम्बन्ध में न होंगी। कतिपय बुद्धिमान लोग तो इसे शास्त्र कहना ही भूल समझते हैं। कुछ आसन ही में अटक रहते हैं। कोई यों ही साँस चढ़ाने को योग जानते हैं और कोई अकारण ही भ्रम में पड़कर नाना प्रकार के तप करते हैं जिसका कोई लाभदायक परिणाम नहीं होता। किसी किसी ने उसकी अंतिम अवस्था वायु में उड़ने, पृथ्वी में गड़ने आदि ही को मान रखी है। योग से सिद्धि शक्ति आती है इससे इन्कार नहीं परन्तु योग का वास्तविक अभिप्राय परम तत्व से मिलाप और सहबास प्राप्त करना है। यही समस्त हिन्दू शास्त्रों का सार है और जब यह प्राप्त हो जाता है तो और किसी शास्त्र की आवश्यकता नहीं रहती। इस कारण योग यदि शास्त्र है तो वह केवल क्रियात्मक शास्त्र है उसके यहाँ

मौखिक हिसाब किताब की आवश्यकता नहीं है।

हम आरम्भ से इस पुस्तक में 'श्रुति' अथवा 'शब्द' का बारम्बार वर्णन करते आये हैं और इस कारण हमारे पाठकों को भी ध्यान रखना चाहिये कि श्रुति अथवा शब्द से क्या तात्पर्य है और क्या कारण है कि हिन्दू शास्त्र इसी का राग आदि से अन्त तक अलापते आ रहे हैं। अगले खण्ड में अब हम 'मीमाँसा' पर कुछ वर्णन करेंगे।

पाँचवाँ खण्ड—पूर्व मीमाँसा

'मान्सा' संस्कृत शब्द 'मान'-ज्ञान की खोज से निकला है। इसके हिन्दुओं के बीच दो भेद हैं—पूर्व मीमाँसा और उत्तर मीमांसा—पूर्व पहला है और उत्तर पिछला है। कोष में पूर्व और उत्तर के यही अर्थ हैं।

पूर्व मीमाँसा व्यवहारिक है, उत्तर मीमांसा बद्धि गम्य है। वह कर्मकाण्ड है, यह ज्ञान काण्ड है। इसका आरम्भ जैमिनि ऋषि से है, उसकी नींव कृष्णद्वैपायन व्यास से है परन्तु इससे कोई यह मिथ्या परिणाम न निकाले कि इन ऋषियों से पूर्व मीमाँसा नहीं है। संसार में कोई वस्तु न नवीन है न प्राचीन। विचार आदि प्राचीन काल से विद्यमान थे, इन ऋषियों ने उनके नियमित रूप बना दिये इस कारण वह उन के नाम से सम्बोधन किये जाते हैं।

कुछ लोग योग की भाँति इसे शास्त्र नहीं मानते। इसे केवल कर्म का पंथ समझते हैं और उसे वेदान्त के आधीन नहीं करना चाहते। यह उनकी बड़ी भूल है। हिन्दुओं के धर्म में कर्म और ज्ञान का मेल सदैव से रहा है।

वास्तव में जीवन कर्म ही से आरम्भ होता है, फिर वह मन की ओर झुकता है, फिर बुद्धि की ओर झुककर आत्मा की ओर

ढलता है। यह जीवन के चार ठेके हैं। जैमिनि ने केवल कर्म पर बल दिया। साँख्य ने अपने ढंग पर ज्ञान पर बल दिया। पातञ्जलि ने कर्म, उपासना, ज्ञान तीनों ही से सम्बन्ध रखना आवश्यक समझा। न्याय और वैशेषिक ने मन से मिले हुये बुद्धि के स्थल को महत्व दिया। वेदान्त ने बुद्धि से मिले हुये आत्मिक स्थल को अधिक उच्च समझा। इनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जो अपने विशेष ढंग पर आत्मिक शान्ति का प्रबन्ध न करता हो। किसी एक शास्त्र की दो शाखाओं को अपना अगुआ बना लो और अन्त में तुम धीरे-धीरे उसी स्थान पर पहुंचोगे जो आदर्श है। इस पर न जाओ कि कोई इनमें से त्रिपुटी वादी है कोई द्वैतवादी और कोई एकत्ववादी है। सबके भीतर किसी न किसी रूप में अद्वैत की शिक्षा है और हिन्दू धर्म चूंकि पूर्ण मार्ग है वह मानुषी प्रकृति और मानसिक सुझाव की अनेक रूपता देखकर उनकी आत्मिक शांति का विशेष ढंग से प्रबन्ध करता है।

पूर्व मीमाँसा कर्मकाण्ड को वर्णन करते हुये भी शास्त्र ही है।

यह सत्य है कि वह ईश्वर, आत्मा, प्रकृति आदि सिद्धाँतों पर इतना बल नहीं देता। उसका सारा बल धर्म जिज्ञासा पर है। उसका प्रथम सूत्र यह है:—

"हे जिज्ञासु! गुरु से वेदों के पढ़ने के पश्चात तुझको धर्म के जानने की इच्छा होनी चाहिये।"

यह धर्म क्या है? यह वेद के बताये हुये कर्म के नियमों का पालन है। वेद की टीका किस प्रकार हो? कर्म किस प्रकार किये जाँय। वह क्यों किये जाँय? इत्यादि इत्यादि। इसी प्रकार के सिद्धान्त उसमें अधिकतया वर्णित हैं। यह मीमाँसा एक प्रकार के वेदों के ब्राह्मण ग्रन्थ अथवा वैदिक कर्म के शास्त्र की व्याख्या है और उसका उत्तर भाग इसी भाँति वेदों

के उपनिषद् ग्रन्थ अथवा वैदिक ज्ञान के शाखा की व्याख्या है। जैमिनी भगवान प्रकट रीति से बुद्धि गम्य शास्त्र की आवश्यकता नहीं मानते। कतिपय मनुष्यों की सम्मति में वह नास्तिक हैं। उन्होंने ईश्वर के संबंध में स्पष्ट रीति से कुछ नहीं कहा। उनकी दृष्टि में वेद ही सब कुछ हैं। वेद स्वयं अपना प्रमाण आप हैं। वेद के लिये और किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वेद धर्म की ओर ले जाते हैं, धर्म की शिक्षा देते हैं। धर्म में स्वयं मनुष्य के मनोवाँच्छा के पूरा करने की शक्ति है। वह धर्म ही को सब कुछ मानते हैं परन्तु उस धर्म को जो उनकी समझ में वेदों ने प्रतिपादन किया है।

जैमिनी ने जो इतना अधिक वेदों के निर्भ्रान्त होने पर बल दिया है अन्ततः उसका कोई कारण भी तो होना चाहिये। वह कहते हैं "शब्द नित्त है, शब्द व्यापक है और इस कारण शब्द स्वयं अपना प्रमाण है।"

सूत्रों में आता है:—"शब्द नित्य है क्योंकि उसके उच्चारण से यह तात्पर्य है कि दूसरों को विशेष प्रकार का ज्ञान हो। यदि वह नित्य न होता तो उस समय तक कभी प्रवाहित न रहता, जब तक कि सुनने वाला उसके अभिप्राय को हृदयाङ्गम न कर लेता, क्योंकि उसमें कारण के अन्त हो जाने का दोष है।

हम इस पर और अधिक क्या कहें। हम अपने अन्तर शब्द सुनते और उसी का साधन करते हैं और हमारा विचार है कि जिस शब्द पर इतना बल दिया गया है वह अन्तर का अनाहत शब्द है जो वास्तविक वेद वाणी है। वह स्वयं सिद्ध है। दूसरे के प्रमाण के आश्रित नहीं है। यह श्रुति है। ऋषि श्रुति का ऐसा ही मान करते थे जैसा हम करते हैं और जो लोग इस पर तनिक भी विचार करेंगे तो श्रुति के निर्भ्रान्त और स्वयं-सिद्ध होने की साक्षी पर आपत्ति न करेंगे। हम

जान बूझ कर जैमिनी के कर्म-काँड की व्याख्या नहीं करते परंतु श्रुति के अभिप्राय के अनुसार यज्ञ करते हैं। उसमें आहुति डालते हैं और अन्तर ही अन्तर वास्तविक रीति पर वेदों के मंत्र को त्रिलोकी के स्थान तक सुनते रहते हैं और हमारा विश्वास है कि उत्तर काल में सारे इल्हामी (आकाशी) धर्मों ने शब्द की नित्यता, ईश्वर परता और निर्भ्रान्ति का सिद्धान्त हमारे वेदों ही से लिया है। इसी विषय पर हमने बहुत लिखा है इस लिये अधिक विस्तार नहीं करते। समझने वाले के लिये इतना ही पर्याप्त है। ऋग्वेद की श्रुति इस शब्द के सम्बन्ध में स्वयं क्या कहती है उसे भी सुन लो:—

"हे विरूप! अपनी स्तुति नित्त शब्द के साथ भेज" (ऋग्वेद ८-६४-६) नित्य शब्द अनादि है और अनन्त है। आप ही आप उच्चारण किया गया और आप ही आप ठहरा है" (स्मृति)।

(१) मुसलमान कहते हैं "खुदा 'कुन' का कल्मा बोला और दुनिया बन गई।"

सूफ़ी का दावा है "गर ब इज़हार रू न आउर्दे। नामे आवाज़ ईं जहाँ न बुदे।"

यूहन्ना की अंजील स्पष्ट रीति पर मान रही हैं—"आरम्भ में शब्द था। शब्द खुदा था। शब्द खुदा के साथ था। शब्द ने सब कुछ उत्पन्न किया" इत्यादि इत्यादि। इससे अधिक प्रमाण कोई और क्या चाहता है। यह विषय अधिक बात चीत और वादविवाद का नहीं है।

छटा खण्ड—उत्तर मीमान्सा अथवा वेदान्त

वेदान्त, वैदिक-शिक्षा के अन्तिम अभीष्ट और वास्तविक आदर्श होने के कारण सबसे अधिक महत्वपूर्ण, सबसे अधिक

सबसे अधिक उच्च भाव वाला होने के कारण
ष प्रकार का मान रखता है। इसका कुछ
ों के वर्णन में आ गया है। यहां कुछ थोड़ा
ढंग पर वर्णन कर दिया जाता है। इसकी
है परन्तु उपनिषद् विशेषतया इसके विषय
श डालते हैं।

पनिषद ३-१४ की वाणी है:—"वास्तव में यह
यह ब्रह्म से पैदा हुआ, ब्रह्म में लय होता और
है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को उसी की पूजा

हुसंख्यक पदार्थों का पता लगाया, सांख्य
न हुआ बताया। दोनों ने स्वतंत्र रीति
पश्चात् वेदान्त एक पग और आगे
जिसको न्याय और साँख्य पदार्थ
भिन्न नहीं हैं। प्राकृतिक सत्ता
उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं
यता और वास्तविकता पर
उच्च दृष्टिवान मनुष्यों के
द्वितीय, अनुपम, सत्य-
ह अद्वैत कहलाता है।
यमान ही है। ऋग्वेद
सूक्त तक में उसका
कारण है, मनोहर
लगने वाले हैं।

कोई नहीं है।

ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या जीव ब्रह्मैवनापरः=
मिथ्या है, जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है।"

इस वेदांत का पूर्ण रूप व्यास बद्रायण
नामी पुस्तक में दिखाया है। ब्रह्म-सूत्र के
नाम प्रसिद्ध हैं जैसे–वेदांत-सूत्र, शारीरिक-
इत्यादि-इत्यादि। इसका प्रथम सूत्र ही ब्रह्म-जिज्ञ
होता है। यही ब्रह्म-जिज्ञासा, परम पुरुषार्थ
जीवन का उच्च ध्येय है। इस पर कई टीकायें
अधिक प्रमाणिक स्वामी शंकराचार्यजी की टीका
इस सूत्र से भली-भाँति समझाने का प्रयत्न कि
इस बाह्य जगत का वास्तव में ब्रह्म के साथ वही
कपड़े को सूत से, दही को दूध से, घड़े को मि
को स्वर्ण से है। वह स्वयं उत्पत्तिकर्त्ता और
है। वही कर्म, कर्त्ता और क्रिया है। वह

वेदांत की शिक्षा इतनी सूक्ष्म
कम मनुष्य उसे समझ सकते हैं।
कुछ है ब्रह्म ही ब्रह्म है, सहज
पदार्थों पर सबकी दृष्टि रहती
है। इसके अतिरिक्त इसकी
जिस पर साधारण बुद्धि
परंतु यह उसी का का
विरोधी का उत्तर
प्रमाणित करता
होने देता। वि
अपनी शिक्षा
उपस्थित करता हु

वेदान्त जगत को

११२ ❀ शिव ❀

ईश्वर, देवता, मनुष्य और सारी सृष्टि उत्पन्न हो-होकर उसी
में लय होती रहती है। इसके हृदयाङ्गम कर लेने से फिर जगत
का भ्रम जाता रहता है।

इस ब्रह्म की स्थिति समझाने के लिये उपनिषदों की सीधी-
साधी शिक्षा के अतिरिक्त वेदान्त ने उत्तर-काल में कई उपा-
अपने निर्मित किये। उनमें से कोई प्रत्यासवाद कहला
कोई विवर्तवाद कहलाता है और कोई विशेषवाद
इत्यादि-इत्यादि, परंतु यह वास्तव में केवल
का प्रयत्न है और इनके क्रम में वेदांत
आँशिक, ऊपरी और अपेक्षिक
अंत में 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या
स्थित करता हुआ जिज्ञास
वेदान्त की शिक्षा
समझा दिया है।
पर और उ
नहीं है

असत् जगत उत्पन्न होता
दान समझता है और जिस
उसी प्रकार यह सब ब्रह्म रूपी
असत्, शुद्धि-अशुद्धि की विचार
पानी, झाग इत्यादि समुद्र
की लहरों की भाँति ब्रह्म

व्यक्ति की नाईं उपस्थित हो जाते हैं। स्वप्न-स्वप्नावस्था में सत्य प्रतीत होता है, पीछे वह मिथ्या प्रतीत होता है इसी प्रकार व्यवहारिक अवस्था में जगत सत्त भासता है इसके पीछे उसकी सत्ता नहीं रहती।"

(७) "जिस प्रकार सीप में चांदी का भ्रम होता है वैसा ही यह जगत भासता है और लोग इसे सत्त समझते हैं।"

(८) "कुंडल और कंकन स्वर्ण ही हैं। वैसे ही यह जगत भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है, उसी का रूप है।"

(११) पंच भूतों के मेल और कर्मों के संस्कार से शरीर बनते हैं जो सुख दुख के भाँडे हैं।"

(१४) "आत्मा पंच कोषों से ढका हुआ है और उन्हीं से बना हुआ प्रतीत होता है। उसकी सत्ता रंगीन कपड़े पर रखे हुये दर्पण की तरह भिन्न दिखलाई देती है।"

(१५) "जिस प्रकार धान के छिलके के उतर जाने से चावल निकलता है वैसे ही विचार करने से आत्मा पंच कोषों से भिन्न दिखलाई देने लगता है।"

(१८) "आत्मा राजा की नाईं है जिसके मंत्री यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि हैं। आत्मा इनसे भिन्न है।"

(१६) "अज्ञानी समझता है कि आत्मा ही कर्म करता है। कर्म करने वाली तो इन्द्रियां हैं। आकाश में जिस प्रकार बादल की गति में चन्द्रमा चलता हुआ दिखलाई देता है वैसे ही इन्द्रियों के व्यवहार में आत्मा के संबंध में विचार उत्पन्न होता है।"

(२२) "मन और बुद्धि की विद्यमानता दुख, सुख, राग, द्वेष इत्यादि को उत्पन्न कर देती है। सुषुप्ति में मन और बुद्धि के न रहने से यह सब लोप हो जाते हैं। यह केवल मन के धर्म हैं।"

(२३) "सूर्य्य का गुण प्रकाश, जल का शीतलता और अग्नि की उष्णता है। इसी प्रकार आत्मा का गुण सत्त, चित्त और आनन्द है।"

(२७-२८) "बुद्धि आत्मा को नहीं समझती। आत्मा के समझने के लिये किसी और समझ की आवश्यकता नहीं है। वह स्वभाव ही से प्रकाशवान है।"

(३१-३५) "आत्मा आप अपनी सत्ता का विज्ञापन है। 'मैं शरीर में न्यारा हूँ, 'मैं असङ्ग हूँ' 'उत्पत्ति, मृत्यु, जरा और बुढ़ापे से मुझे कोई संबंध नहीं है, विषय से मेरा कोई संबंध नहीं है, 'मैं' मन से न्यारा हूं' 'राग, द्वेष, ईर्ष्या, दुख, सुख मुझ में नहीं हैं।" 'निर्भय, अपरिवर्तनशील, अरूप, अरंग मैं हूँ और आकाश की नाईं सब में व्यापक हूं' एक रस, शान्त, पूर्ण, असङ्ग मैं हूं" 'सत्त, चित्त, आनन्द, अद्वितीय' एक और सब से श्रेष्ठ मैं ही हूँ।"

(४०) "आत्मा में 'ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता की त्रिपुटी नहीं है। वह स्वप्रकाश है और ज्ञानस्वरूप है।"

(४६) "जिस ज्ञानी ने ज्ञान से समझ लिया है, वह जगत को अपने अंतर देखता है और ज्ञान की दृष्टि से वह सबको एक ही आत्मा समझता है।"

(५२) "जैसे अग्नि-अग्नि से मिलकर, वायु-वायु से मिलकर और जल जल से मिलकर एक हो जाते हैं वैसे ही शरीर के नाश होने पर एक ही आत्मा रह जाता है।"

वेदांत अपनी शिक्षा के क्रम में बड़ी सुन्दरता से पंच-कोष इत्यादि विषयों पर प्रकाश डालता है और इस प्रकार अपने सिद्धान्त को अच्छे ढंग के साथ समझाता है कि ऊपरी अध्ययन भी अपने प्रभाव से रहित नहीं रहता। वेदाँत के ग्रन्थ असंख्य हैं। इनमें से पंचदशी नामी पुस्तक बहुत बड़ी

और अत्यन्त रोचक है। उसी एक पुस्तक के पढ़ लेने से अच्छी प्रकार वेदान्त का मन्तव्य समझ में आ सकता है। उसमें वेदान्त के सारे विषय आ गये हैं। कोई भी बात शेष नहीं रह गई है।

सातवाँ अध्याय

पुराण

हिन्दू धर्म के पवित्र ग्रन्थों में सबसे अधिक महत्ता और पवित्रता तो वेदों ही को दी गई है परन्तु अन्य धार्मिक ग्रन्थ भी विचार और अध्ययन के योग्य हैं। इनमें से वेदाँग, स्मृति आदि सब ही अपनी विशेष स्थिति रखते हैं। इन सबके सार को यहां देना असम्भव है। इनके पश्चात पुराण भी अपनी स्थिति रखते हैं और यह भी हिन्दू धर्म की पुस्तकें मानी जाती हैं।

इन पुराणों में पाँच प्रकार के विषय आये हैं (१) सर्ग वा जगत की उत्पत्ति (२) प्रति सर्ग (जगत का नाश और उसकी पुनः उत्पत्ति) (३) वंश (देवताओं आदि की वंशावली) (४) मनवन्तर (भिन्न भिन्न मनुओं के राज्यकाल का वर्णन) (५) वंश चरित्र (सूर्यवंशी और चन्द्र वंशी राजाओं के वर्णन)

कतिपय लोग पुराणों को इतिहास समझते हैं। इसमें कोई बात आपत्तिजनक नहीं है परन्तु किसी सीमा तक इतिहास से इनका पद अधिक भी है। कोई भी पुराण ऐसा नहीं है जो धार्मिक शिक्षा न देता हो और इस शिक्षा देने का ढंग उस समय की लेखन शैली के अनुसार मनोहर रहा होगा। पुराण कथा कहानी के क्रम में धर्म के तात्पर्य को हृदयाङ्गम कराते हैं

और इस ढंग से समझाने का प्रयत्न करते हैं कि शास्त्र और अध्यात्म के सिद्धान्त सरलता पूर्वक समझ में आजाँय।

यह कितने प्राचीन हैं विवादास्पद विषय है। सम्भव है कि यह बहुत पुरानी रचना न हों, परन्तु इसमें संशय नहीं कि इनकी जड़ बहुत प्राचीन पुराणों में रही होगी जो काल के अत्याचार से सुरक्षित न रह सके। वेद तो सदैव से कण्ठाग्र किये जाते थे इस कारण वह अब तक वैसे ही चले आते हैं। इनके कँठाग्र कराने का प्रबन्ध इस जोर के साथ नहीं था, इसलिये अनुमान कहता है कि यह प्राचीन पुराणों की स्मृति रूप रचनायें हैं। इस प्रकार रामायण और महाभारत के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिये। मूल रामायण, मूल महाभारत और मूल पुराणों का पता नहीं है, परन्तु अब चूंकि वह हाथ नहीं आते इन्हीं को मान और पवित्रता का पद दिया जाता है। विष्णु पुराण उपस्थित रचनाओं में बहुत प्राचीन और भागवत पुराण बहुत नवीन है और दोनों ही अध्ययन और विचार के अधिकारी हैं। श्रीमद्भागवत विशेषतया संस्कृत भाषा की अद्वितीय पुस्तक समझी जाती है।

यह पुराण केवल साधारण बुद्धि वालों के लिये लिखे गये थे जिसमें कोई मनुष्य धर्म के लाभ से वंचित न रह सके। इससे यह भी न समझना चाहिये कि वह साधारण पुस्तकें हैं। उनके भीतर भी ऐसे विषयों पर वाद-विवाद आये हैं कि जो अध्यात्म के रहस्य वाद से सम्बन्धित हैं और जब तक अच्छी प्रकार सत्संग नहीं किया जायगा इनके अर्थों के समझने की कुंजी का भी हाथ में आना कठिन है क्योंकि अध्यात्म के बाहरी और भीतरी सिद्धाँत भी इनमें अधिकता से भरे पड़े हैं।

इस अवसर पर हम फिर एक विशेष बात अपने पाठकों के ध्यान में लाना चाहते हैं और वह यह है कि वेद कर्म-काण्डी

ब्राह्मणों की सम्पति बन गये हैं। उपनिषदों के ज्ञान का भाग क्षत्रिय राजाओं की जायदाद बन गया, यहाँ तक कि बहुधा ऋषियों को भी ज्ञान सीखने के लिये इन क्षत्रियों की शिष्यता ग्रहण करना पड़ती थी। दर्शन और षट शास्त्र उनके लिये विशेष हो गये जो अधिक समझदार और बाल की खाल निकालने वाले थे और पुराण अधिकतया जनसाधारण के लाभ की वस्तु समझ लिये गये। वेद के संहिता भाग को तो ब्राह्मण चाव से कठंस्थ करते थे। शास्त्रेच्छु लोगों ने जब देखा कि यह पद उनकी रचनाओं को प्राप्त होने वाला नहीं है तब सूत्र लिखने का प्रबंध किया और दो चार शब्दों में स्मृति के नवीन करने के लिये सूत्र लिखे जिनको सब चाव से याद करने लगे और उनके भी रक्षा का प्रबन्ध हो गया। यह सब सूत्र वेदान्त सूत्र के अतिरिक्त दो-दो, चार-चार पृष्ठों की पुस्तकें हैं जिन पर बड़ी-बड़ी टीकाएँ लिखी गई हैं।

ऊपर की पंक्तियों पर विचार करने से पता लग सकता है कि ऐसा क्यों हुआ ? उस का कारण यद्यपि हमने संकेत में कई बेर बताया है परन्तु अब और भी उस पर प्रकाश डालते हैं।

श्रुति सुनी हुई वस्तु का नाम है। यह अनहदवानी का अभ्यास अथवा शब्द योग है। इसके सुनने के लिये पहिले अन्तरीय यज्ञ करने की आवश्यकता हुआ करती थी। हमारे मस्तिष्क में पाँच प्रकार की अग्नि विद्यमान है और विचार और श्रद्धा की आहुति दे देकर उसको प्रचण्ड करते हुये अन्दर ही अन्दर प्राचीन ऋषि उसका अभ्यास करते थे। यह पाँच अग्नि-कुण्ड हमारे मस्तिष्क में हैं। पीछे उनका बाह्य अनुकरण बनाया गया। यज्ञ, हवन और पाँच प्रकार की अग्नि और पाँच यज्ञ इत्यादि का प्रबन्ध बाहर किया गया। धीरे-धीरे यह नितान्त बाहरी और बहिर्मुखी हो गये। अन्तरीय यज्ञ और अंतरीय

श्रुति पाठ को लोग भूल गये; परन्तु चूंकि उसका विश्वास बल-पूर्वक मनों में स्थिर हो चुका था, बाहरी रीतियों का अनुकरण ब्राह्मणों में अब तक चला आ रहा है और वह पंच-अग्नि का अर्थ बाहर लगाते हुये चले आते हैं। अन्तरी बात का प्रचार कोई कैसे करे, इस कारण वेदों का प्रचार नहीं किया गया और वह अब तक रहस्यमय चले आते हैं और प्राचीन संस्कारों के कारण कभी न कभी ऋषियों की संतान उनके मन्तव्य को समझ ही जायगी। शेष और विषयों का प्रचार हो सकता था इस लिए वह सबको ज्ञात है।

पुराणों की शिक्षा भी ऊँची है। नैतिक विषय आध्यात्मिक सिद्धान्तों से मिले हुये इस प्रकार अध्ययनशील मनुष्यों को ऊँची दृष्टि वाला बना देते हैं कि कुछ कहा नहीं जा सकता। यदि इनमें से कोई मनुष्य क्रमशः उन्नति करता जाये तो अधिकारी होने पर वह कभी न कभी और भी उच्च शिक्षा का पात्र हो जायगा। उस समय वेद से उसे भी वंचित रखने का किसी को अधिकार न होगा। यजुर्वेद में एक मंत्र आता है कि वेद का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और स्त्री सब को है। यह आज्ञा ऐसे ही अवसरों के लिये है।

पुराणों के उच्च विचार के उदाहरणार्थ श्रीमद्भागवत के इसी श्लोक को यथेष्ट समझ लो:—"दूसरों को दुखी देखकर अच्छे लोग दुखी ही होते हैं। यह भगवान की सबसे बड़ी पूजा है।"

इन पुराणों में जो भगवान की स्तुति के श्लोक आये हैं वह अत्यन्त कवितामय और मानसिक भावों के उभारने वाले हैं। उसका एक उदाहरण यहां दिया जाता है:—

"जगत्पते! तू जीवों का आधार, दुखों का नाश करने वाला, मनुष्यों का सहायक है, मुझ पर दया कर। मुझे बुराई

से बचा। भूत, भविष्य वर्तमान, और चर-अचर जगत के रचने वाले! तू साकार है, तू निराकार है, तू अव्यापक है, तू व्यापक है, सूक्ष्म है। सबका स्वामी है। स्तुति के योग्य है। मैं संसार के मोह माया को छोड़कर तेरी शरण लेता हूँ। मेरी इच्छा है कि मैं तुझसे मिल कर एक हो ज ऊँ। तू आनंदघन है, मैं न रहूँ।"

एक-एक पुराण वैसे ही एक-एक देवता से सम्बन्धित हैं जैसे वेद के एक-एक मंत्र एक-एक देवता से सम्बंधित हैं। कुछ अनसमझ आदमी इसको दोष की बात बताते हैं और पुराणों का खंडन करते हुये सिद्ध करने का प्रयत्न कहते हैं कि पुराणों में एक अद्वितीय ईश्वर की पूजा नहीं है। यह उनकी बड़ी भूल है।

ईश्वर तो एक ही है। सत, रज, तम के कारण पुराणों ने उसके तीन रूप मान लिये हैं--ब्रह्मा, विष्णु और शिव। यह त्रिमूर्त्ति कहलाती है। ईश्वर को कोई पिता कहता है, कोई मित्र कहता है, कोई दयालु स्वामी मानता है। इस प्रकार मानने से ईश्वर में तो कोई दोष आता नहीं। हाँ, जिसकी जैसी दृष्टि है, वह एक गुण को दूसरे पर श्रेष्ठ समझता है। किसी को ईश्वर का मित्र बनना अधिक भाता है। वह उसे पिता कहना नहीं चाहता। उसकी समझ में मित्र का पद पिता से भी अधिक उच्च है। यही दशा पुराणों की भी है, किसी को विष्णु का रूप प्रिय है, किसी को शिव का। जिसको विष्णु का रूप प्रिय है वह शिव रूप की ओर कम ध्यान देता है। उसमें अन्ततः दोष क्या हुआ।

मानुषी स्वभाव भी त्रिगुणात्मक और तीन प्रकार के हैं। कोई सतोगुणी है, कोई रजोगुणी है और कोई तमोगुणी है। जो जैसा है वह वैसे ही गुण वाले ईश्वर की तो पूजा को पसंद करेगा, दूसरे को कदापि पसन्द न करेगा, क्योंकि गुण के प्रभाव से उसकी मनोवृत्ति विशेष दिशा की ओर ही झुकी रहेगी।

मनुष्य एक है, कोई उसे पिता कहता है, कोई भाई, कोई बहनोई। सम्बन्ध तो हजारों ही होंगे और होते रहेंगे, परन्तु व्यक्तित्व में इन सम्बन्धों और गुणों के कारण क्या भेद पड़ता है। मनुष्य यदि तनिक भी विचार करे तो यह संशय और भ्रम दम के दम में अभी दूर हो सकते हैं और यदि यह कहो कि पुराणों के मानने वाले बहुधा आपस में झगड़ते रहते हैं, कोई शिव का गीत गाता है, कोई विष्णु का, तो उनके विषय में यों समझलो कि यह अनसमझ हैं। उनको स्वयं तत्त्व का ज्ञान नहीं है। अनसमझ मनुष्य तो सदा ही लड़ते-झगड़ते रहेंगे। उनको लड़ने-झगड़ने से रोकना कठिन है। हाँ, समझदार मनुष्य को तत्त्व की गहराई तक पहुँचने के प्रयत्न में रहना चाहिये और बस।

गुणों के विचार से १८ पुराण और १८ उपपुराणों में से प्रत्येक पुस्तक किसी न किसी ऐसे देवता से सम्बन्धित की गई है जिस में उसके विशेष गुण की अधिकता है।

अंतरीय और वाह्य जगत की उत्पत्ति का नियम एक ही है। विष्णु पुराण आदि में जो समुद्र मंथन की गाथा आई है और जिसमें १४ रत्न निकले हैं वह साधारण मनुष्यों के लिये तो साधारण कहानी है परन्तु वास्तव में वह कछुवे के आधार पर चौदह इन्द्रियों के उत्पन्न होने की गाथा है जो प्रत्येक मनुष्य के प्रारम्भिक जीवन से सम्बन्धित है और जिस मार्ग से प्रत्येक मनुष्य गुजर रहा है। देवता और राक्षस मन की शुभ और अशुभ वृत्तियां हैं। समुद्र शरीर का मध्य भाग, मन्दराचल पर्वत इच्छा शक्ति, और शेषनाग की रस्सी वृत्तियों के लपेट हैं और इसी प्रकार। हमने चूंकि विष्णु पुराण, विज्ञान रामायण और विज्ञान कृष्णायन में इन विषयों पर बहुधा विचार किया है, यहाँ लम्बा वाद करना आवश्यक नहीं सम-

झते। समझने वालों के लिये इतना ही संकेत पर्याप्त है।

कलियुग के सम्बन्ध में इन पुराणों की भविष्य वाणी अवहेलना करने योग्य नहीं हैं। सुनोः—"कलियुग में क्या होगा? जाति विवेक और वर्णाश्रम की ओर किसी की दृष्टि न रहेगी। न कोई वेदों का सम्मान करेगा। धन का व्यय करना ही धर्म का रूप समझा जायगा। जिसका जी चाहेगा तप और व्रत करेगा। यही धर्म के अर्थ समझे जायेंगे। जिसके पास अधिक धन है और जो उसे अधिक व्यय करता है वही सब पर श्रेष्ठ रहेगा। सुशीलता का स्थान बल और कठोरता ले लेगी। स्त्रियाँ स्वतंत्र होकर विलासिताप्रिय बन जाँयगी। पुरुषार्थी लोग धन ही को सब कुछ समझ कर उसे अनीति से प्राप्त करेंगे। स्त्रियां चंचल मन वाली होंगी। दरिद्रीपति को छोड़ जाँयगी। जो उन्हें धन देगा उसी को प्यार करेंगी। राजे अपनी प्रजा को रक्षा देने के स्थान में उनकी धन सामग्री लूटते रहेंगे और कर प्राप्त करने के बहाने सौदागरों और दूकानदारों की पूँजी पर दृष्टि रखेंगे। इस अंतिम युग में मनुष्य के अधिकार पद दलित होंगे। बेचैनी बढ़ेगी। किसी की सम्पत्ति सुरक्षित न रहेगी और सुख और ऐश्वर्य थोड़े दिन के लिये होंगे इत्यादि इत्यादि।

आठवाँ अध्याय

भगवद्गीता

हिन्दू धर्म के समझाने में रामायण और विशेषतया महाभारत ने बहुत बड़ा चमत्कार दिखलाया है। खेद है यहां पृष्ठों की कमी के कारण उनके उदाहरण नहीं दिये जा सकते। महाभारत संसार में सबसे बड़ी पुस्तक है और धार्मिक शिक्षा

की एक भी ऐसी शाखा नहीं है जिसको इस अमर काव्य के लिखने वाले ने छोड़ा हो। कोई क्यों व्यर्थ अधिक पुस्तकें पढ़े। अध्ययन के लिये केवल एक महाभारत पर्याप्त है। इसमें योग, साँख्य, वेदान्त आदि के सिद्धान्त सब ही आ जाते हैं। कर्म-धर्म की व्याख्या हर ढंग से की गई है और प्रत्येक युग के कर्मों की व्याख्या का ध्यान रखा गया है। इसी महाभारत में बहुत सी गीतायें हैं जिनमें से आजकल श्रीमद्भगवद्गीता सर्वप्रिय और सर्वमान्य पुस्तक समझी जाती है।

यह तीन भागों में विभाजित है और प्रत्येक भाग फिर छै-छै भागों में विभाजित कर दिया गया है। इनमें भक्ति, कर्म, योग, साँख्य और वेदान्त को इस प्रकार आपस में मिला दिया गया है कि ध्यान पूर्वक पढ़ने वाले विद्यार्थी को फिर आक्षेप का स्थान नहीं रहता।

कर्म के सम्बन्ध में यह शिक्षा है:—"अपना धर्म यद्यपि (बाह्य रूप से) दूसरे के धर्म से कितना ही बुरा प्रतीत हो और दूसरे का धर्म कितना ही अच्छा प्रतीत हो परन्तु अपने धर्म पर आरूढ़ रहना चाहिये। अपने धर्म पालन की ओर से आंख मींचना मरने से भी अधिक बुरा है। दूसरों के धर्म से भय उत्पन्न होते हैं। अपने धर्म पर आरूढ़ रहने से पूर्णता आती है।"

यहाँ धर्म से तात्पर्य, वर्णाश्रम और जाति धर्म आदि है।

आत्मा की अमरता के विषय में यह विचार है:—'ज्ञानी जीवित अथवा मृतक किसी का शोक नहीं करते, क्योंकि कभी ऐसा समय नहीं था जब मैं न रहा हूँ अथवा तू न रहा हो या यह सदार न रहे हों और कभी ऐसा समय नहीं आयगा जब सबका नाश हो जायगा। जिस प्रकार आत्मा बचपन से जवानी, जवानी से बुढ़ापे में जाता है वैसे ही वह एक रूप से